पर अपनी समझ में वह अपने हृद्गत भावों को ठीक-ठीक नहीं प्रकट कर सके थे। उन्हें ऐसी धारणा हो गई थी, मानो सौंदर्य देखने या कहने की वस्तु ही नहीं है, केवल समझने और ध्यान करने की वस्तु है। वह कभी तो जलाशय के किनारे बैठकर, कभी बाग़ के किसी कुंज में लेटकर और कभी आधी रात के समय गुप अंधकार में बिस्तरे पर पड़े-पड़े सुंदरता के रूप को निहारा करते थे। उन्हीं प्रवीण को आज ऐसी स्त्री मिली है!

नवयुवक प्रवीण अभी स्त्री के और दायित्वों को अच्छी तरह नहीं समझते। वह सर्वथा अनुभव-शून्य हैं। स्त्री के लिये उनके हृदय में प्रेम है—केवल प्रेम या इतना आदर है, जितना हो सकता है—वह प्रेम भी वास्तविक प्रेम नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से देखने से वह स्पष्ट मोह दिखाई देता है। वह मोह केवल रूप को चाहता है। प्रवीण केवल प्रेयसी के रूप में स्त्री को चाहते, जानते और समझते थे। अभी तक उन्होंने इस संबंध में इतना ही सबक़ पढ़ा था। पर दुर्भाग्य से उनकी स्त्री प्रेयसी न थी। हिंदू-कुल-वधू प्रायः प्रेयसी नहीं होती। हिंदू-जाति में विवाह केवल प्रेम के लिये नहीं किया जाता। प्रेम का तो पुट रहता है। केवल उस ओर अभिरुचि उत्पन्न करने के लिये; जैसे भोजन में स्वाद। स्वाद के लिये भोजन नहीं किया जाता, उसका उद्देश्य पेट भरना है, पर स्वाद भोजन की ओर अभिरुचि दिलाना है। इसी प्रकार हिंदू-

समाज में विवाह का गंभीर उद्देश्य और है, पर जिस प्रकार चटोरे लोग स्वाद के लिये निरुद्देश्य भोजन खाकर रोगी होते हैं, उसी प्रकार प्रवीण भी केवल प्रेम के लिये ब्याह और स्त्री को समझकर खीज रहे थे।

यह बात नहीं थी कि सुखदा स्वामी को प्यार नहीं करती थी। प्यार एक ओर रहा, वह उन पर न्योछावर होती थी। यह शिक्षा उसने किसी स्कूल में नहीं पाई थी। भारत की हवा में साँस लेने से हिंदू-ललना पत्नीत्व के गुरु उत्तरदायित्व को समझ ही नहीं जाती, वरन् उसी अल्पवय में—उसी अबोध, मूर्ख और तिरस्कृत स्थिति में—उसे पालन करने-योग्य अपूर्व दृढ़ता, अदम्य आत्मबल और लोकोत्तर सहन-शक्ति भी दिखा सकती है।

यह स्पष्ट है कि सुखदा सुंदरी न थी, पर उसमें उसका क्या अपराध ? वह अपनी कच्ची अवस्था में अपने माता-पिता के स्नेह को तोड़कर पति-गृह में आई थी। यहाँ आकर उसने न प्यार पाया, न आदर। यहाँ अगर कोई उसे प्यार करता था, तो वह उसकी सास थी। पर, उस प्यार का कोई मूल्य न था। वह चिर-रोगिणी थी, महीने के तीसो दिन खाट पर धरी रहती थी। सुखदा के लिये सारा घर का धंधा एक ओर था, और सास की टहल एक ओर। उसे घर बुहारना पड़ता, बासन माँजने पड़ते, चौका लगाना पड़ता, सास का मल-मूत्र उठाना पड़ता, स्वामी को गर्म भोजन कराना, सास
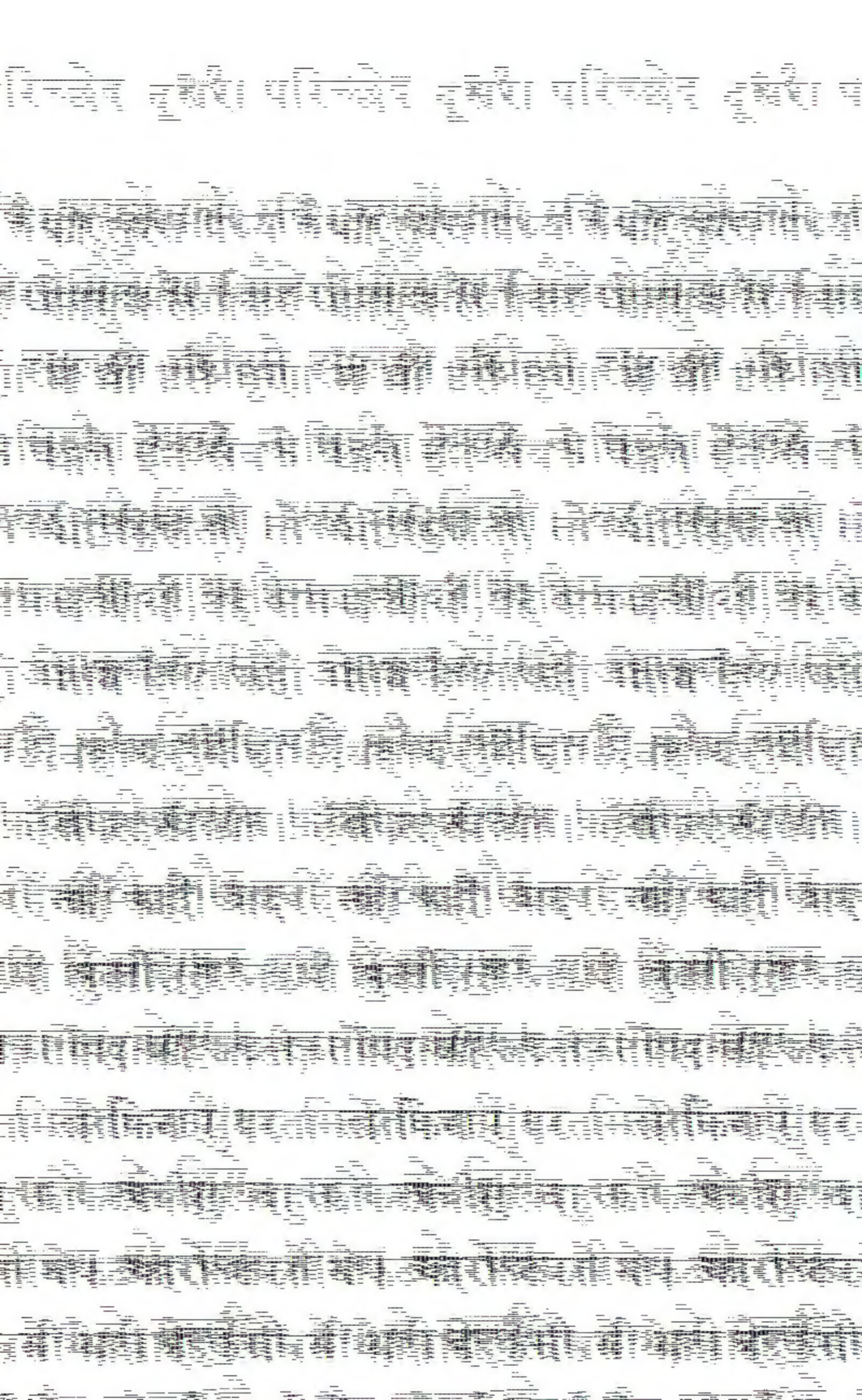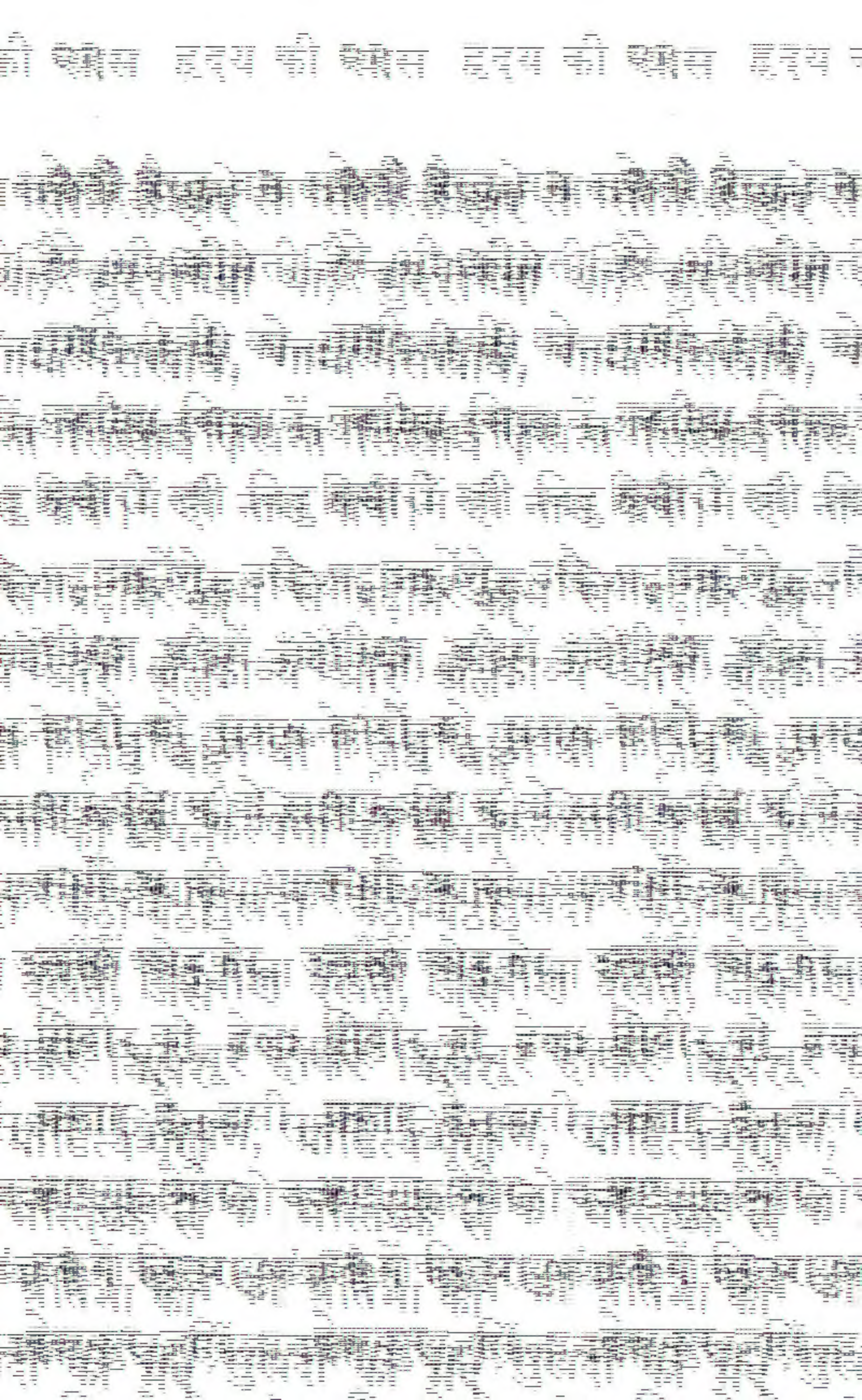
नायिका का वर्णन है, सुखदा भी तो वैसी नहीं है। पर वह देखते थे कि जैसा नायक है, वैसा मैं हूँ। अब उनकी सहृदयता का लोप हो घमंड का उदय होता। वह विचारते थे कि वैसा ही मेरा रूप है, वैसा ही मेरा गुण है, पर मुझे यह घर! यह स्त्री! छिः!

घमंड के साथ ही क्रोध का प्रवेश होता है। वह उसी के रंगमें आँखें रँगकर सुखदा की धोती को घूर-घूरकर देखने लगते कि उस पर एकआध जगह जूठन लग रही है, दो-एक जगह चिकनाई के दाग़ हैं, और वह देखते, उसके कपड़ों से रसोई के मसालों और आटे की गंध आ रही है। अब वह पागल की तरह चिल्लाकर कहते—"मूर्खा! बदनसीब! तुझसे इतना भी नहीं होता कि वस्त्र और शरीर को तो स्वच्छ रक्खे।"
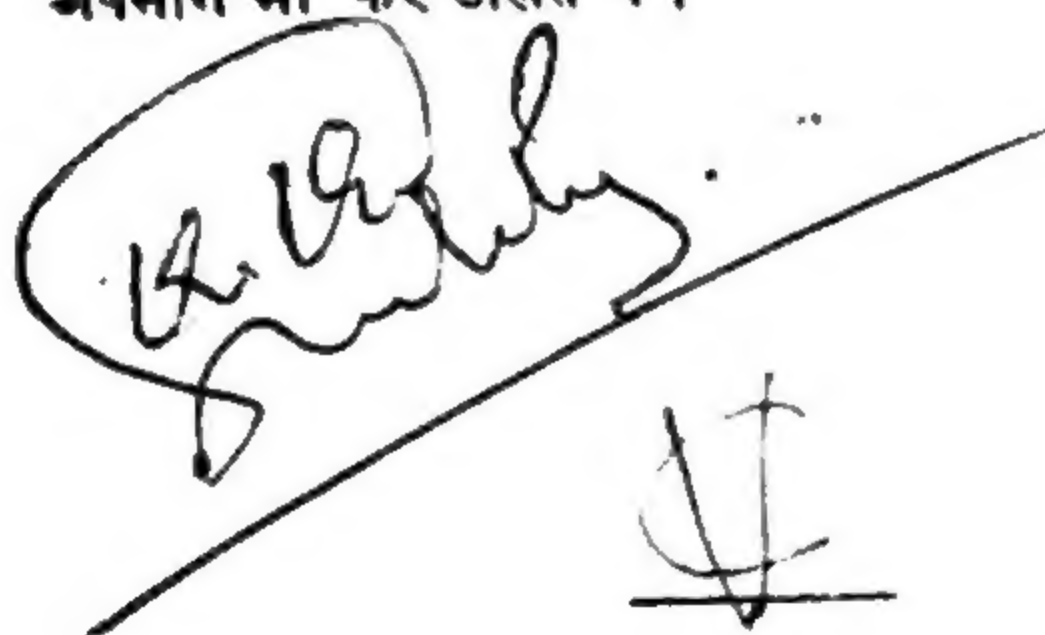
सुखदा पुस्तक से मुँह उठाकर देखती, यह क्या हुआ। पढ़ाते-पढ़ाते सफ़ाई की फटकार कैसी! पर वह देखती कि वास्तव में स्वामी की फटकार झूठी नहीं है। उसके वस्त्र वास्तव में मैले और दुर्गंधित हैं। वह लज्जित होकर नीचे को ताकने लग जाती। सच पूछा जाय, तो यह उसका शील था। घर-भर के सारे मैले काम करके स्वच्छ रहना संभव ही न था। जब प्रवीण पास-पड़ोस की स्त्रियों के उदाहरण देकर समझाते, तो भी वह चुपचाप सुन और सह लेती थी। यह चुप्पी प्रवीण को और भी गर्म कर देती थी। सुखदा चुपचाप ही सब सहती थी। यह उत्तर देती हुई लजाती थी कि उसके पास वही एक

धोती है। उसी से वह चौका-वर्तन, झाड़-बुहार करती है। रोज़ साबुन लगाने पर भी वह मैली हो ही जाती है, और पड़ोसिनों के पास दर्जनों कपड़े हैं। नौकर-चाकर उनके काम करते हैं। वह सोचती है कि ऐसा उत्तर देने से पति का तिरस्कार होगा, उनकी दरिद्रता पर ताना होगा।

क्रोध और घमंड का भूत क्षण-भर में ही प्रवीण के सिर से उतर भी जाता था। फिर उनकी सहृदयता जागती। वह बहुत कुछ सुखदा की कठिनाई और स्थिति को समझते और अपनी क्रूरता पर दुखी होते। पर न-जाने कैसा स्वभाव हो गया था कि हृदय में जितना भी प्रेम, दया और दुःख वह सुखदा के लिये रखते थे, उसके सामने किसी तरह प्रकट नहीं कर सकते थे। उसके सामने जब कभी बात करते, क्रोध में करते थे। अंत में उन्हें भय हो गया कि कहीं ऐसा न हो कि मैं क्रोध के आवेश में आकर उस पर हाथ चला बैठूँ। बस, उन्होंने धीरे-धीरे पढ़ाने का अप्रिय काम बंद कर दिया। यही दशा गायन और दस्तकारी की भी हुई। सुखदा के हाथ में वही घर का धंधा रहा, और दिन-रात चौबीस घंटों के लिये उसको वही बहुत था।

प्रवीण यदि चेष्टा करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकते, तो उन्हें बहुत कुछ शांति मिलती। वह जैसे गुणी, योग्य और प्रतिभा-संपन्न थे, वैसे ही अदम्य उत्साही और अथक परिश्रमी भी होते, तो बहुत कुछ कमा लेते, और तब उन्हें बहुत कुछ

गृह-सुख मिल सकता। एकआध नौकर भी लगा सकते, जिससे सुखदा को भी दासियों की तरह पिलना न पड़ता। पर आलस्य का असुर सदा उनका सहचर था। वह उन्हें अवसर पर झट नीचे खींच लेता था। भीरुता भी उसकी सहायक होती, और ऊपर से घमंड तनकर कहता—"वे कोई और होंगे, जो मितव्यय करके पैसा-पैसा बचावें। यह नियम मेरे लिये नहीं है, यह केवल समाज का अत्याचार है! जो मेरा मेरे अनुरूप जीवन नहीं बना, तो समाज को उचित है कि मेरा आदर करे। मैं उस योग्य हूँ।" इस झोंक में कभी-कभी वह अपने मित्रों और शुभचिंतकों का अपमान भी कर डालते थे।

तीसरा परिच्छेद

इसे सौभाग्य ही कहना चाहिए कि सुखदा ग़रीब-घर की लड़की थी। वह चाहे प्रवीण के उपयुक्त न हो, पर उस घर के लिये सर्वथा उपयुक्त थी। दरिद्रता के कारण उसे न किसी पाठशाला की शिक्षा मिली थी, और न वह कसीदे के काम में ही होशियार थी। उसकी यह कमी भी प्रवीण के लिये लाभदायक ही थी। यदि वह सुशिक्षिता स्त्री की तरह ठाट से रहती, तो कहाँ से आतीं उसके लिये बढ़िया-बढ़िया साड़ियाँ, फुलेल और जूते-मोजे, और कहाँ से उसे कार्पेट बुनने का समय मिलता ? यदि यह आर्थिक दृष्टि से बुनने-बुनाने के लिये धेले रोज़ की मजूरी का भी काम करती, तो घर-भर में मक्खियाँ भिनभिना उठतीं। प्रवीण को जैसी स्त्री की चाह थी, और गर्व के कारण वह अपने को जैसा योग्य समझते थे, वैसे वह वास्तव में थे नहीं। अपनी तुच्छ सुंदरता और विद्या के बल पर वह धरती पर पैर टेकते ही नहीं थे, और आलस्य के मारे कोई उद्योग-धंधा भी जी से नहीं करते थे। उनका पुराना घर बिना मल्लाह की नाव हो रहा था। उनके पिता का शरीर शिथिल हो गया था। माता को

हिस्टीरिया का दौरा होता था। वह किसी काम की न थीं। ऐसे घर में सुखदा-जैसी कर्मठ स्त्री का आना उस का सौभाग्य था। एक और अच्छी बात थी। बेचारी उपन्यास तो पढ़े न थे, प्रेम के अभिनय वह जानती थी। भीतर-ही-भीतर उसके प्राण स्वामी में अटके रहते थे; पर ऊपर वह एकाग्र मन से घर के धंधे में लगी रहती थी। प्रवीण बाबू सुंदरी स्त्री तो चाहते थे, पर उन्हें यह नहीं सूझता था कि उसे लाकर रखने का स्थान भी उनके पास है या नहीं? वह इस पर विचार ही नहीं करते थे कि सुंदर वस्तु को और-और साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है, जिससे वह सुंदर दिखाई देती है। उन्होंने चाँदी के गुलदस्ते में फूल देखे थे। क़लई के गिलास में निर्मल जल देखा था। वह यह भी समझते थे कि घूरे [illegible] नहीं सजेंगे। वह अनुपयुक्त स्थान पर यदि कोई वस्तु [illegible] लेते थे, तो उस वस्तु को वहाँ रखनेवाले की हृदय-हीन[illegible] पर बहुत-कुछ कुढ़ते थे। तब उनकी मानो सहृदय[illegible] उठती थी। वह स्वयं अपने को उस घर में, उस स्थि[illegible] देखकर कुढ़ते थे। उन्हें विश्वास था कि मैं इस गृहस्[illegible] योग्य नहीं हूँ। तिस पर भी वह उसी स्थिति में, [illegible] उसके सर्वथा अनुपयुक्त एक परी-सी सुंदर [illegible] तो पूर्ण रसिका, पूर्ण नायिका स्त्री चाहते थे। [illegible] नींद बासन माँजने को चाकरानी नहीं, जहाँ नित्य [illegible] चाप

ही धोबीघाट लगाना पड़ता है, जहाँ एक ही घर में रसोई बनाना, रहना, सोना पड़ता है, उस घर के अकर्मण्य, क्रोधी और भीरु स्वामी पद्मिनी स्त्री के हास्य का सौरभ चाहते थे। यह अद्‌भुत बात थी। प्रवीण को यह पता न था कि यदि ऐसा हो जाता, तो वह और भी दुखी और अशांत होते। वह स्वयं वहाँ उत्पन्न हुए थे, तब भी वहाँ रहने से इतने दुखी थे। यदि वह किसी बड़े घर की स्त्री को लाकर डाल देते, तो उनके कुढ़ने का ओर-छोर न होता।

सुखदा पति के आचरण से दुखी तो थी, पर उसे यह धारणा थी कि इस तरह चिड़चिड़ाकर बोलना उनका स्वभाव ही है। वह इसको क्या करे ? उसे यदि किसी तरह यह बात मालूम हो जाती थी कि पति ऐसा करने में प्रसन्न होंगे, तो वह अपने वश-भर वैसा ही करती। पर पति की प्यास तो इतनी ऊँची थी कि सुखदा किसी तरह से उसे पूरी कर ही नहीं सकती थी। वह कभी-कभी सोचा करती थी कि कैसे दिव्य रूप मेरे स्वामी हैं ? ऐसे और किसके हैं। वह देखती, स्वामी के शरीर से चंदन के [illegible] सुगंध आती है। जब वह हँसते हैं, तो मानो खिल [illegible] आता है। इसके बाद ही उसकी विचार-धारा बदलती। [illegible]ती कि मेरे सामने वह कितनी बार हँसते हैं। उनके कितना प्रेम, दया और बड़प्पन है। पर मैं क्या [illegible] ? न रूप में, न गुण में ! मैं उनके चरणों की

त के बराबर हूँ। तिस पर भी उन्होंने अपने चरणों का आसरा दे रक्खा है? यही क्या कम है। जैसा मेरा मुख है, वैसे उनके पैरों के तलवे हैं। जैसे मेरे होठ हैं, वैसी उनकी उँगलियाँ हैं। उनकी रस-भरी आँखों के समान किसकी आँखें हैं? पर वह मेरी तरफ़ हाय! किस तरह देखा करते हैं। या तो क्रोध में या दुख में। मैंने इनके बीच में आकर बड़ा अनर्थ किया है। मोहन-भोग की थाली में ज्वार के टिक्कड़ आ गए हैं। पर मैं अपने इस फूटे मुँह को क्या करूँ? कहाँ बदलूँ? यह चीज़ तो बाज़ार में बिकती नहीं। मेरी बुद्धि भी कैसी जड़ है। उन्होंने पढ़ाना शुरू किया, पर मैं पढ़ ही न सकी। हारकर वह आस छोड़ बैठे। मैं भी करती क्या? घर के धंधे से छुटकारा ही कहाँ मिलता है? इस धंधे में भुतनी बनी रहती हूँ। न करूँ, तो काम न चले। सासजी की टहल न हो, तो दो दिन में उनके प्राण निकल जायँ।

अबोध, असहाय बालिका इस तरह सोच-सोचकर विह्वल हुआ करती थी, पर उसे कोई मार्ग नहीं सूझता था। अंत में उसने सोचा—स्वामी पढ़ाना चाहते थे। अब मैं पढ़ूँगी। बात समझ में आवे, चाहे न आवे, मैं मन लगाकर सुनूँगी अवश्य। इस बहाने से दो घड़ी उनके पास बैठने का तो अवसर मिलेगा। मैं देखती हूँ, उन्हें रात को अच्छी नींद नहीं आती। पर जब मैं पैर दबाने जाती हूँ, तो चुपचाप
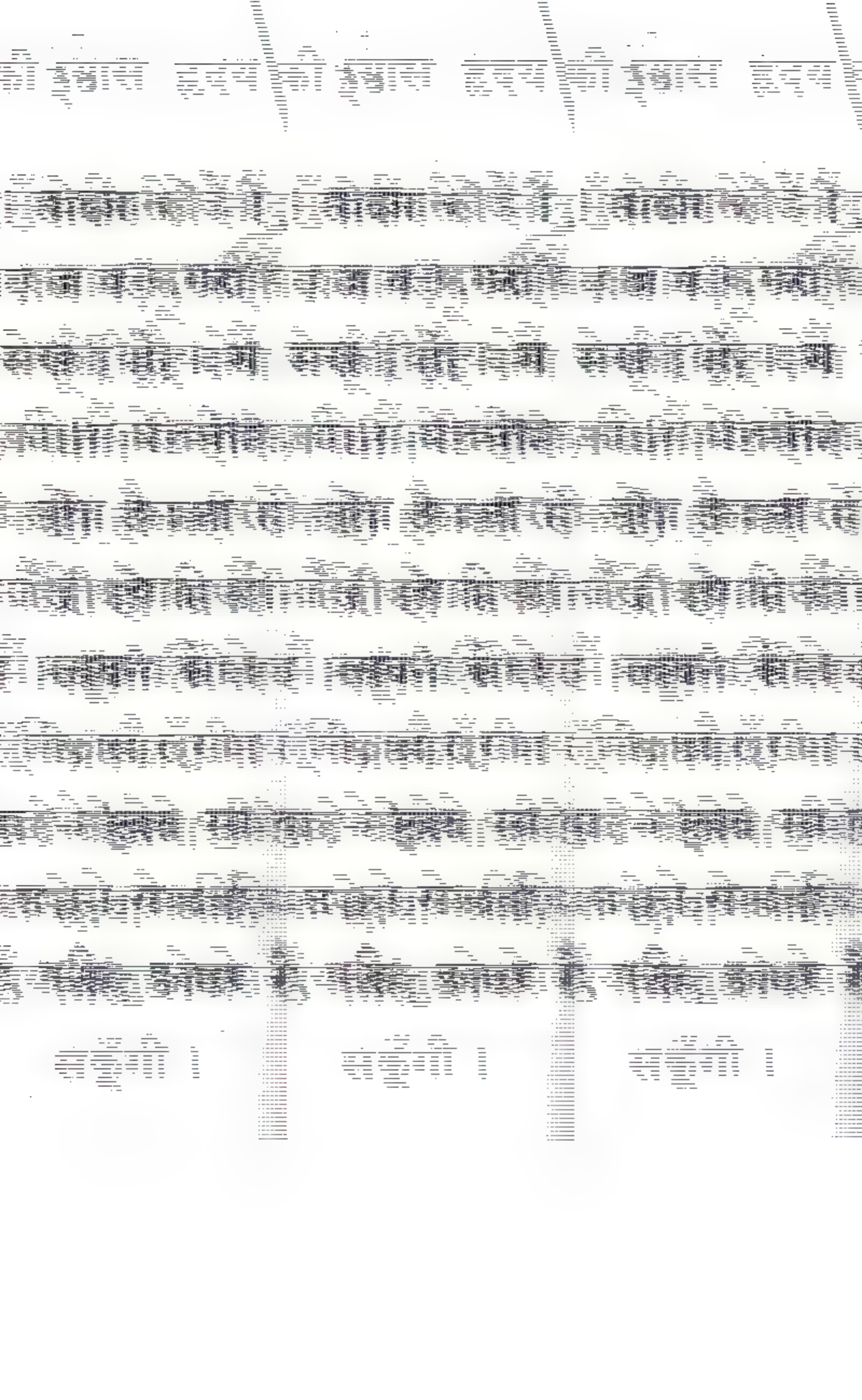
चौथा परिच्छेद

चाँदनी छिटक रही थी, और सुख-स्पर्श वायु बह रही थी। भगवती छत के ऊपर पलँग पर पड़ा था। छत पर छिड़काव हो रहा था, और बहू अपने हाथ का बुना हुआ तीलियों का पंखा लिए खड़ी हवा कर रही थी। इस एकांत में भी घूँघट उसके मुख पर पड़ा था। भगवती ने प्रेम-भरी चितवन से अपनी नवोढ़ा स्त्री को देखते हुए कहा—"ऊपर का चाँद तो निकल आया है, नीचे का बादलों में ही छिपा रहेगा ?"

बहू ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह ज़रा सिकुड़कर उसी तरह पंखा झलती रही। भगवती ने देखा, उस बारीक घूँघट के भीतर एक मंद मुस्कान छा गई है। उसने पंखे की झालर पकड़कर अपनी ओर खींच लिया। उसके साथ ही बहू के हाथ और फिर उसका शरीर भी भगवती के ऊपर झुक गया। भगवती ने पंखे की झालर छोड़कर एक हाथ से उसका हाथ पकड़ लिया, और दूसरे से उसका घूँघट खोलने लगा। बहू ने लजाकर कहा—"नहीं-नहीं।" इसके बाद वह बल करके छिटककर अलग जा खड़ी हुई।

भगवती इससे नाराज़ नहीं हुआ। उसने हँसते-हँसते उठकर कहा—"जाने दो, इतना बिगड़ती क्यों हो ? मुझे

तो इस गरमी में तुम पर तरस आ गया था। यह लो, और भी ओढ़ लो।" इतना कहकर उसने दोहर उठाकर बहू पर डाल दी। नववधू कुछ उसके बोझ से, कुछ लाज से, ज़रा झुक गई। फिर धीरे-धीरे बोझ उतारकर बोली—"तंग करोगे, तो चली जाऊँगी।" भगवती ने कुछ खिसके हुए घूँघट से देखा कि उसकी भौंहों में बल है, होठों में मुस्किराहट और नेत्रों में लाज है। उसने चाँद-से उसे तकते हुए कहा—

"कहाँ ?"

"नीचे।"

"डर नहीं लगेगा ?"

"डर काहे का ?"

"यही अँधेरे-उजेले का।"

"अँधेरे-उजेले का क्या डर ?"

"और मुझे पंखा कौन करेगा ?"

"आप कर लेना।"

भगवती ने हँसकर कहा—"अच्छी बात है, जाओ, लाओ पंखा मुझे दो।" इतना कहकर उसने स्त्री के हाथ से पंखा झपट लिया, और दूसरी ओर मुँह फेरकर जल्दी-जल्दी पंखा करने लगा।

बहू क्षण-भर चुपचाप खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़कर उसने पंखा पकड़ लिया। भगवती ने मानो चौंककर कहा—"ऐं! यह क्या ? तुम यहीं हो ?"

बहू ने ज़रा रिस के स्वर में कहा—"चलो, ऊधम रहने दो। पंखा मुझे दो।" अब उसका आधा घूँघट खिसक चुका था, जान-पहचान और बातचीत भी बढ़ गई थी। पर भगवती को इतने से संतोष न हुआ, उसने पंखे को ज़ोर से पकड़कर कहा—"दी हुई चीज़ को छीनती हो? बड़ी भली हो!"

स्त्री ने कुछ न कहकर पंखा छीनना शुरू किया। भगवती ने हाथ दूर करके कहा—"पंखा अब न मिलेगा।"

बहू ने ज़रा पति के ऊपर झुककर और घुटनों का पलँग पर सहारा देकर, उचककर पंखा लेना चाहा, भगवती ने मतलब साध लिया। उसने इस अवसर पर उसकी कमर में हाथ डालकर, अपने अंक-पाश में बाँध, कसकर छाती से लगा लिया। नवचंद्रमा का उदय हुआ। सुधा बरसने लगी। इस पृथ्वी पर जो सुख सबसे बढ़कर है, जिसके प्रलोभन से मनुष्य संसार की सभी झोंक सहकर जीवित रहता है, वही आस्वाद—वही रस—भगवती को आज प्राप्त हुआ। उसने मुग्ध होकर अपनी अत्यंत प्यारी नई स्त्री का अत्यंत स्नेह, उछाह और आनंद से चुंबन किया। वही मानो उसकी संधि थी। उसके साथ ही सब झगड़े रफ़ा हो गए थे। फिर किसी ने पंखे के लिये इतना झगड़ा करते दोनो को नहीं देखा।

पाँचवाँ परिच्छेद

प्रात:काल का समय था। भीनी-भीनी वायु बह रही थी। प्रवीण अत्यंत अस्थिरता से छत पर टहल रहे थे। टहलते हुए वह एक मुख का चिंतन कर रहे थे। उस चिंता के मारे उनका माथा सिकुड़ गया था। वह मुख उनके बालसखा भगवती की नवोढ़ा स्त्री का था।

चिंतित विषय अतिशय कुत्सित और पाप-पूर्ण था। घृणा और आत्मग्लानि के मारे उनके होठ सिकुड़ रहे थे, और उद्वेग के मारे गले की नसें फूल रही थीं; पर वह जितना ही इस विषय को भूलना चाहते थे, उतना ही वह और भी उन्हें स्मरण आता था। वह अपनी दुर्बलता पर झुँझला रहे थे; पर वह मुख उनकी आँखों में गड़ गया था।

वह सोच रहे थे, अब से तीन वर्ष पहले ब्याह के समय जब मैंने उसे देखा था, तब में और अब में इतना अंतर हो गया है? तब वह अनखिली कली के समान था, और अब पूर्ण विकसित पुष्प है। वह दुर्बल, पीला मुख गदराकर भर गया है, और गहरा रँग गया है। तब वे नेत्र स्थिर थे, कुछ देखने-न-देखने का उन्हें ध्यान न था। पर आज मानो सारे संसार को एक साथ ही देख लेना चाहते हैं। तीन वर्ष पहले जो पीलापन

था, वह कुछ मैला था। अब वह निखरकर मोती के समान उज्ज्वल और आबदार हो गया है।

वह सब ओर से ध्यान हटाकर यह सोचने लगे कि वह सारे संसार की लज्जा और संकोच को बटोरकर और उसका ढेर-का-ढेर अपने ऊपर उँडेलकर अपने छलकते हुए यौवन को ढाँकने का कितना साहस-पूर्ण और व्यर्थ प्रयत्न कर रही थी। इतना सोचते-सोचते वह विह्वल हो गए, उनकी आँखों में एक मद—एक उन्मत्तता—छा गई। वह दोनो हाथों की मुट्ठी बाँधे जल्दी-जल्दी पैर पटककर छत पर टहलने लगे।

धीरे-धीरे उनके नेत्रों में भगवती की मूर्ति आ खड़ी हुई। वह सरल, विश्वास-पूर्ण, स्वच्छ दृष्टि, प्रफुल्ल चेहरा आँखों में फिर गया। उन्होंने भयभीत होकर अपने चारो तरफ़ देखा—अनुताप की लहरें आने लगीं। वह अपने मनोविकार पर झुँझलाकर होठ काटकर बोले—"ऐसे सरल प्रेम का, इस श्रद्धा-पूर्ण भ्रातृभाव का कैसा अच्छा पुरस्कार दे रहा हूँ!" किंतु उनके शरीर के असुरों ने दम न लेने दिया। धीरे-धीरे उनकी प्रतिहिंसा की प्यास भड़की। वह सोचने लगे—मैं किसी व्यक्ति की वस्तु नहीं चाहता। मैं केवल ईश्वर के इस अन्याय और विषम वितरण पर विचार करता हूँ। भगवती क्या इस घर और इस वधू के योग्य है? जो मूर्ख सर्वदा मेरी बुद्धि की खुरचन से अपनी योग्यता सजाए हुए है, जिसका रूप भी उसकी बुद्धि के ही सदृश है, वह ऐसी गृह-लक्ष्मी और घर का अधि-

छाता बना ? और मुझे यह दिया गया ! ज़रा भगवती के बराबर उसकी स्त्री को खड़ा करके तो देखो ? इस बात का ध्यान आते ही उनके तन-बदन में आग-जैसी लग गई। उन्होंने निश्चय किया, जिस प्रकार मेरी स्त्री मेरे लिये उपयुक्त नहीं, उसी प्रकार भगवती की स्त्री भी उसके लिये उपयुक्त नहीं। मेरी स्त्री जैसी भद्दी और मूर्खा है, भगवती भी वैसा ही है, और भगवती की स्त्री के अनुरूप वर तो रूप और गुण में मैं ही हूँ।

इतना सोचकर उन्होंने अघाकर सांस ली, मानो उनका परिश्रम सफल हो चुका था। समस्या पूर्ण हो चुकी थी। पर चाहे कितने ही अभिन्न हों, एक दूसरे पर सर्वस्व वारते हों, फिर भी स्त्री-बदलौवल तो नहीं कर सकते। भगवती की स्त्री तो खैर, उसके लिये भगवान् की दुर्लभ भेंट थी; किंतु प्रवीण बाबू भी, जो अपनी स्त्री पर इतना विरक्त थे, किसी सुंदरी स्त्री के बदले में किसी पुरुष को अपनी स्त्री नहीं दे सकते थे। उन्होंने मोहांध होकर इतना तो सोच लिया कि दोनो पात्र दोनो के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। पर इतना न सोचा कि दोनो स्त्रियाँ दोनो घरों और स्थितियों के लिये सर्वथा उपयुक्त थीं।

इतना सोच चुकने के बाद वह अब बिलकुल एकाग्र होकर उसी मुख का चिंतन करने लगे, मानो अधिकार-संपन्न होकर निस्संकोच भाव से उस मुख के सौंदर्य का निरीक्षण करने लगे। इस निरीक्षण में वह तल्लीन हो गए। ज्यों-ज्यों वह उसमें लीन होते गए, त्यों-त्यों वह मुख मधुरता और सुंदरता की खान देख

पड़ने लगा। उन्हें ऐसा बोध हुआ कि सामने ही वह मुख है। उसकी आँखों से रिसता हुआ अमृत बरस रहा है। होठों पर भीनी-भीनी मुस्कान है। वह और निकट से देखने लगे। तब मुख से निकलती हुई सांस की सुगंध से उनका मस्तक तर हो गया। वह बेसुध-से होकर आंखें बंद करके भीत के सहारे खड़े हो गए। उसी विचार-सागर में उन्होंने देखा, वही मुख उनके और निकट आ गया है, और वह उनसे एक स्वर्ण-चुंबन का प्रार्थी है। प्रवीण की हृदय-तंत्री के सारे तार झन-झना उठे। वह उन्मत्त की तरह दोनो हाथ फैलाकर उसे पक-ड़ने को लपके; पर एकाएक उसी मुख के पीछे निकट ही एक और मुख अग्रसर हुआ। उन्होंने देखा, पहला मुख जितना उज्ज्वल, प्रफुल्ल और मादक है, दूसरा उतना ही मलिन और निराश। इस मुख की आँखों में उल्लास का मद है, और उस मुख की आंखों में करुण क्रंदन। और भी देखा, उस मुख की मलिनता कुछ तो स्वाभाविक है, और कुछ लापरवाही से उत्पन्न हो गई है। प्रवीण ने पहचाना, यह उसकी सुखदा का मुख है। प्रवीण ने ज्यों ही उन्मत्त की तरह उस उन्माद-पूर्ण मुख का प्रसाद पाने की चेष्टा की, त्यों ही सुखदा ने अपने राख-भरे हाथों से मलिन आँचल का छोर पकड़कर लज्जा से अपना म्लान मुख छिपा लिया। प्रवीण सिर से पाँव तक काँप उठे। उनके होठों की टाँट बँध गई। वह आँखें फाड़-फाड़कर उस करुण मुख

को देखने लगे। उस प्रसाद के लिये बढ़े हुए उनके हाथ बढ़े-के-बढ़े ही रह गए। वह उदास मुख उसी माया में खो गया। साथ ही उस उन्मत्त करनेवाले मुख को भी ले गया। प्रवीण ने छत पर चारो ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखा, और तब वह बालक की तरह फूट-फूटकर रोने और मछली की तरह तड़प-तड़पकर सारी छत पर लोटने लगे।

छठा परिच्छेद

अच्छी तरह रो लेने पर प्रवीण बाबू का जी कुछ हलका हुआ। आँसुओं के मेह में वह सब आँधी-तूफ़ान बह गया था। अब वह धरती से उठे। चारो तरफ़ धूप फैल गई है। एक बार शून्य दृष्टि से उन्होंने चारो तरफ़ देखा। फिर कुछ देर तक वह धरती की ओर ताकते रहे। इसके बाद एक लंबी साँस लेकर काँपते स्वर में बोले—

"देख पराई चूपरी, मत ललचावे जी;
रूखी - सूखी खायके, ठंडा पानी पी।"

इसके बाद और एक दीर्घ निःश्वास फेककर वह खड़े हुए, और कपड़े पहनकर दूकान जाने की तैयारी करने लगे। धीरे-धीरे सुखदा ने एक हाथ में गिलास और एक हाथ में तश्तरी लेकर ऊपर प्रवेश किया। उसने चटाई का आसन खिसका-कर, तश्तरी और गिलास वहाँ रखकर पति से धीमे स्वर में कहा—

"कुछ नाश्ता कर लो। गरमी में प्यास लगेगी। रोटी तो देर से खाते हो।"

प्रवीण स्त्री को देखकर कुछ झेप गए थे। उन्होंने उससे आँखें चुराते हुए कहा—"इस समय मुझे तो कुछ भूख नहीं

थी।" पर सुखदा को अनुरोध करने की आवश्यकता न हुई। प्रवीण अपने मन की चंचलता छिपाने के लिये चुपचाप आसन पर जा बैठे।

सुखदा ने देखा, आज पति कुछ प्रसन्न हैं। उसने डरते-डरते प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"दुपहर को ज़रा जल्दी आ जाया करो। गरमी के दिन हैं, तनिक लेटने को समय मिल जायगा।" प्रवीण ने नीची दृष्टि किए खाते-खाते धीमे स्वर में कहा—"अच्छा।"

सुखदा ने देखा, आज स्वामी संतुष्ट हैं। वह और पास खिसककर बड़े उत्साह से पंखा करने लगी।

प्रवीण ने कहा—"रहने भी दो। पंखे का क्या काम है? वैसे ही बहुतेरी हवा चल रही है।"

पति आज प्रसन्न ही नहीं हैं, वह उसका मान भी कर रहे हैं। उसने कुछ पत्नीत्व का अधिकार दिखाते हुए नम्रता-पूर्वक अनुनय से कहा—"हम एक बात कहें। यदि तुम मानो तो?" प्रवीण नें खाते-खाते उपेक्षा के स्वर में कहा—"क्या?"

"पहले तुम यह कहो कि मानोगे भी?"

प्रवीण ने कुछ रूखे स्वर में कहा—"आखिर मालूम तो हो, बात क्या है?"

रुखाई को देखते ही सुखदा के उत्साह पर पानी पड़ गया। वह उदास होकर चुपचाप रह गई।

प्रवीण ने खाकर कुल्ला करते-करते भी की वह उदासी

देखी। उन्होंने कैसी गोली उसे मारी है, वह यह भी समझ गए। वह हाथ पोछकर उसके पास आकर बोले—

"कहो न, क्या बात थी ?"

सुखदा ने उदासी से कहा—"जाने दो, कुछ नहीं।"

प्रवीण ने कुछ झुँझलाकर कहा—"यही तो तुम्हारी आदत बुरी है। भिन-भिन क्या ? जो बात है, कहो न ?"

सुखदा चुपचाप धरती को देखती रही।

प्रवीण ने नरमी से कहा—"मुझे दूकान को देर होती है। जो बात हो, कहो। कुछ चाहिए क्या ?"

"नहीं।"

"तो ?"

सुखदा चुप रही। प्रवीण ने कहा—"तो जाऊँ ? नहीं बताती ?"

सुखदा ने एक बार पति की ओर देखकर कहा—"अच्छा, बैठ जाओ, तब कहूँगी।"

इस ज़िद पर प्रवीण के मन में फिर गरमी आ गई; पर वह उसे पीकर आसन पर बैठ गए। सुखदा भी सामने बैठ गई।

प्रवीण बोले—"कहो।"

सुखदा ने धीरे से बग़ल से रघुवंश की पोथी निकालकर कहा—"इस वक़्त हमें थोड़ा-थोड़ा पढ़ा दिया करो।"

प्रवीण अचकचाकर स्त्री की ओर देखने लगे। यह तो

बिलकुल नया प्रस्ताव था। उन्होंने उसी अचरज के स्वर में कहा—"आज यह एकाएक क्या ध्यान में आया ?"

सुखदा ने नम्रता से कहा—"नाराज़ न हो। तुम देखते ही हो, घर के धंधे से छुट्टी बिलकुल नहीं मिलती। अम्मा की टहल करनेवाला भी कोई नहीं है। धंधे से निबटते ही शरीर चूर-चूर हो जाता है, और थकावट आ जाती है। पर अब मैं थोड़ा-थोड़ा पढ़ा करूँगी। तुम इस समय कुछ-कुछ पढ़ा दिया करो।"

प्रवीण ने देखा, सुखदा के बयान का अक्षर-अक्षर सच्चा है, वह सहानुभूति की दृष्टि से उसकी ओर देखकर बोले—"तो जाने दो। फिर पढ़ना, रहने दो। यह तो बड़ी भारी मग़ज़-मारी और फ़ुर्सत का काम है।"

सुखदा ने आग्रह से कहा—"नहीं, मैं पढ़ूँगी तो ज़रूर।" प्रवीण दृष्टि गाड़-गाड़कर सुखदा के मुख की ओर देखते रहे। फिर उन्होंने उठते-उठते कहा—"जाने भी दो। किस झगड़े में पड़ी हो।"

सुखदा ने उनका पैर पकड़कर विनती करके कहा—"बहुत नहीं, तो एक ही श्लोक रोज़ बता दिया करो।"

प्रवीण ने कहा—"पर तुम्हारा तो उच्चारण बड़ा अशुद्ध है। तुम्हारी तो जीभ ही नहीं लौटती।"

सुखदा झेंप-गई, पर उसने कहा—"मैं थोड़ा-थोड़ा पढ़ूँगी और उसे बार बार याद करूँगी, तब तो ठीक होगा।" प्रवीण

को टें-टें—फें-फें करने में साथ देती रहती थी। इससे उसकी रुचि गायन-कला की तरफ़ बढ़ी नहीं, और प्रवीण को भी संतोष न हुआ। यह तो संभव ही न थी कि प्रवीण किसी गायक उस्ताद को लगाकर स्त्री को संगीत-शिक्षा दिलाते। उन्होंने एक बार स्वयं गाना सीखने की इच्छा की थी, पर उस इच्छा के दृढ़ न रहने से हारमोनियम घर में पड़ा धूल फाँक रहा था। उनकी तबियत कभी प्रसन्न रहती ही नहीं थी। तब हारमोनियम बजाने का समय कब मिले? दूसरे, उनकी पसंद भी कुछ ऐसी निराली थी कि दूसरे का बजाना उन्हें अच्छा ही नहीं लगता था। कभी-कभी वह सुखदा पर क्रोध करके कह दिया करते थे कि बाजा सीख लो, वरना इसे बेच डालूँगा। पर सुखदा बाजा सीखे कैसे, यह वह न समझ सकती थी। आखिर एक दिन उन्होंने एक कबाड़ी के हाथ वह बाजा बेच डाला। यह काम उन्होंने सुखदा का जी दुखाने को किया था। यह उद्देश्य उनका पूरा हो गया। उस दिन सुखदा ने दिन-भर कुछ नहीं खाया। पड़ी रोती रही।

कभी-कभी प्रवीण को भिखारियों और छोटे लोगों का गायन सुनने का अवसर मिलता था। कभी-कभी ये लोग अच्छा भी गाते थे। परंतु मलिन वस्त्र पहनकर दीन-हीन दशा में एक कुरूप व्यक्ति क्या गा सकता है? कदाचित् ऐसी स्थिति में कोई अच्छा गवैया भी हो, तो भी उसका गाना सिर्फ़ अंधे ही सुन सकते हैं। आँखवालों के लिये

क्या

यह दृश्य सर्वथा वीभत्स-सा है। प्रवीण आँखवाले थे। उनकी ऐसी धारणा थी कि गाने के योग्य पात्र स्त्री ही है। इसीलिये भगवान् ने उन्हें अप्रतिम सौंदर्य, अलौकिक सुकुमारता और मधुर स्वर दिया है। पर स्त्री का संगीत ? एक ऐसी स्त्री का संगीत, जो रूप-रस-लावण्य में एक-सी हो, सुनने का अभी उन्हें अवसर ही न आया था।

वेश्या से वह डरते थे। वेश्या के प्रति उनके मन में तिरस्कार-भाव न था। कई बार वह वेश्या के घर जाकर रूप-सौंदर्य और वज़ादारी देखने की इच्छा कर चुके थे। पर इस काम के लिये उनमें साहस न था। उनका आत्मगौरव इस कार्य में खास बाधक था।

उस दिन भी उन्होंने मित्रों से वहाँ जाने को साफ़ इनकार कर दिया। बल्कि उन्होंने बड़े जोश में मित्रों से भी वेश्या का मुजरा सुनने की मनाही कर दी थी। उन्होंने कहा—"इस निंदनीय और लज्जा-योग्य काम से दूर रहो। तुम्हें गाना सुनने की ही इच्छा हो, ग्रामोफ़ोन मँगा लो, अथवा किसी गवैए को बुला लो।"

मित्र कब सुननेवाले थे। किसी ने कहा—"वाह ! पुरुष के गाने में भी कहीं वह मधुर रस का झरना झर सकता है ?" दूसरे ने कहा—"ठीक है। कोई बूढ़ा दादा गाया करेगा और हम आँख बंद करके बैठे सुना करेंगे।" प्रवीण के पास [illegible]तों का जवाब ही न था। वह इन बातों को लज्जित

कर ही नहीं सकते थे। उन्होंने देखा कि मित्रों के अनुरोध का बल बढ़ता जा रहा है, और अपनी दृढ़ता खोई जा रही है। प्रवीण का मन अस्थिर हुआ। वह अपने प्रलोभन को न रोक सके। उनके हृदय में दुर्बलता का उदय हुआ। वह ज़रा हँसे। इस हास्य का अर्थ यही था कि क्या नहीं मानोगे? घसीट ही ले जाओगे? मित्रों ने हुर्रा बोल दिया, प्रवीण ने कहा—"भला, यह तो बताओ, वहाँ कौन-कौन होंगे?" मित्रों ने एक स्वर से कहा—"हमारे सबके नाना, काका, फूफा और उनकी नानी, काकी, फूफी, ये सब तो ज़रूर होंगे।" सब हँस पड़े। प्रवीण को जाना ही पड़ा।

अभ्यास हो जाने से प्रत्येक दृश्य और रस को इंद्रियाँ सह जाती हैं! उसमें नवीनता नहीं देख पड़ती। परंतु अभ्यस्त न होने से नवीन विषय अत्यंत कौतूहल-वर्द्धक लगता है। यही दशा प्रवीण की थी। इस दृश्य की कल्पना उन्हें पृथ्वी से दो गज़ ऊँचा उठा रही थी।

सभा में पहुँचकर, वेश्या के सामने बैठकर मित्रगण जब आपस में हँसी-दिल्लगी कर रहे थे, तब प्रवीण बाबू मनोमुग्ध बने एकाग्र-चित्त हो सौंदर्य की इस छाया को छिपी नज़र से देख रहे थे। मन में भय, हृदय में लज्जा, आँख में मोह और आत्मा में अग्नि जल रही थी। सामने वेश्या बैठी थी। मित्रों में से कोई उठकर पान दे रहा था, कोई इतर लगाने के [illegible]े उसका स्पर्श-सुख लूट रहा था, कोई "बी साहबा, क्या

चाहिए ?" कहकर उसके हास्य और रसना के आस्वादन की इच्छा कर रहा था। वेश्या की आँखों में लज्जा नहीं थी। मुख-चंद्र-सागर में लज्जा मछली की तरह बेधड़क नाचती फिरती थी। वह मंद-मंद हँसती थी, पर उस हास्य से वह उन युवाओं के साथ यौवन की चौसर खेल रही थी। प्रवीण सब ओर से दृष्टि छिपाकर यह आलोचना कर रहे थे कि इस स्त्री के सौंदर्य में न्यूनता क्या है। उन्होंने देखा, रंग स्वच्छ है, पर चेहरे का ढाँचा सुडौल नहीं है। मुख जरा चपटा है। यह मुख कुछ और कांति-युक्त और जरा गोल होता, तो अच्छा था। फिर देखा, आँखें बड़ी जरूर हैं, पर वे कुछ मोटी हैं। यह सौभाग्य का दोष है। देखा कि उसके होठ कुछ ज्यादा पतले हैं, और उनका अगला भाग शुष्क दिखाई देता है। प्रवीण विचारने लगे कि सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से इस स्त्री में प्रेम का अभाव होना चाहिए। अब उन्होंने देखा, उसके पीछे के भाग में माथा झुका हुआ है। इसलिये उस स्त्री का स्वभाव कुछ नीच होना चाहिए। अंत में वह इन विचारों की धारा को रोककर उसे देखने लगे। उन्होंने देखा कि इतने पर भी शोभा उस स्त्री के अंग में प्रवाह-रूप से छूटी पड़ती है। वह वेश्या भी रह-रहकर तिरछी दृष्टि से इस नवीन शौक़ीन को देख रही थी।

नवीन शिकार के हृदय की थाह मानो वह नाप रही हो। प्रवीण ने देखा कि आँख के नीचे का भाग चपटा है, और अ

की भौंहें ठीक नहीं हैं। वह विचारने लगे कि यह स्त्री विचार-हीन और मूर्ख भी होना चाहिए। उसमें गंभीरता होनी संभव नहीं। उन्हें मालूम हुआ कि कैसी वस्तु पर कैसा पलस्तर चढ़ाया गया है।

मित्रों ने उन्हें एकाएक हिलाकर कहा—"क्यों भाई! सोते हो या स्वप्न देख रहे हो? आज तुम्हें अपने संगीत का भी कुछ स्वाद चखाना पड़ेगा।" प्रवीण ने घबराकर कहा—"मैं तो सुनने आया हूँ। मुझे क्यों फाँसी पर लटकाते हो?" वेश्या ने रसीला हास्य हँसकर कहा—"आप-जैसे गुणी को विना सुनाए छुटकारा नहीं मिलेगा।" इतना कह एक मद-भरे कटाक्ष से उसने प्रवीण की ओर देखा। मित्र-मंडली ने वाह-वाह कहकर उसकी खूब असंगत तारीफ़ की।

वेश्या प्रसन्न हुई और अपने रूप की बहार दिखाने को खड़ी हुई। साज़िंदे सजकर पीछे तैयार हो बैठे। तबले पर थाप पड़ी। सारंगी में से सिसकारी निकली। सबकी दृष्टि सौंदर्य के इस चंद्र पर लगी रही। धीरे-धीरे उनमें से अमृत-प्रवाह होने लगा। पहले मंद कंठ से उसने ताल-स्वर मिलाया। फिर तो तड़पते स्वर में, काँपती आवाज़ से, उद्वेग-पूर्ण हाव-भाव से, कमर को धीरे-धीरे झुका-कर, मुख ज़रा ऊँचा करके पैर की झाँयरों की झंकार की ताल पर उसने उन्माद बरसाना शुरू किया। उसने गाया—

'जतन बताय जा-कैसे काटूँ रात?'

प्रवीण के हृदय-सितार के तार टूटने लगे। राग के एक-एक स्वर में, पद के एक-एक शब्द में सम्मोहिनी शक्ति थी। उसकी मद-भरी आँखों में, प्यासी चितवन में, उन्माद की छलकती आवाज में, अटपटी अदा में रागिनी मूर्तिमती होकर अठखेलियाँ कर रही थी। उसका स्वर जरा में खिल उठता, तो जरा में ही विषाद-सागर में लीन होते-होते खो जाता। बारंबार उसने गाया—

'जतन बताय जा—कैसे काटूँ रात ?'

स्वर पहले धीमा पड़कर पीछे उद्वेग में आ जाता। पीछे निराश के अंधकार में वह खो जाता था। प्रवीण ने देखा कि गाने के प्रथम शब्द में प्रेम है। दूसरे में मस्ती है। तीसरे में उद्वेग और अंत में निराशा है। उन्होंने यह भी देखा कि गानेवाली इन शब्दों की तस्वीर बनी जाती है। वेश्या ने अंतरा गाया—

'तनक कर्कटी परत हो, नैन रहैं बेचैन ;
वे नयना कैसे जिएँ, जो गड़े नैन में नैन।
जतन बताय जा—कैसे काटूँ रात ?'

मित्रगण संगीत की तान के साथ झूमने लगे। प्रवीण के हृदय में वियोग की जलती अग्नि धधकने लगी। वह आँख बंद करके बारंबार वही अलाप, वही स्वर और उसी मर्म का ध्यान करने लगे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वायु-मंडल उस ध्वनि से ओत-प्रोत हो गया है। गायन आगे चला—

'लकड़ी जल कोयला भई, कोयला जल भई राख ;
मैं पापिन ऐसी जली, कोयला भई न राख।
जतन बताय जा—कैसे काटूँ रात !'

प्रवीण प्रत्यक्ष देखने लगे कि मानो वेश्या का हृदय सच-मुच ही जल रहा है। वह आँखें गाड़-गाड़कर उसके मुख की भाव-भंगी को देखने लगे। उसने गाया—

'पहले प्रीति लगाय के, फिर रोवैं ये नैन;
पानी आग लगाय के, फिर दौड़े जल लैन।
जतन बताय जा—कैसे काटूँ रात !'

प्रवीण की आँखों में आँसू भर आए। उन्होंने एक बार वेश्या की ओर देखा। वह उन्हें ही लक्ष्य कर मानो गा रही थी। वह प्यास-भरी नजर से, क्षुधार्त दृष्टि से उसकी तरफ़ देखने लगे। गानेवाली ने उस करुण दृष्टि से अपनी मोहनी दृष्टि मिलाकर गाया—

'कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खइयो माँस ;
दो नयना मत खाइयो, पिया मिलन की आस।
जतन बताय जा—कैसे काटूँ रात !'

सारंगी की सिसकारी ने विरहिणी का दुख दूना कर दिया। तबला दुख से मानो हाय! हाय! कर उठा। प्रवीण की अंतरात्मा झुलसने लगी। मित्रों ने वाह! वाह! की वर्षा कर डाली। सबने जेबों में हाथ डाले। वेश्या ने अदब से आगे बढ़-बढ़कर सबसे हाथ मिलाए। मुट्ठी गर्म हुई।

हँस के सलाम हुई। प्रवीण अभी भाव की नदी में ही तैर रहे थे, अब वह एकाएक जाग्रत् हुए। उनकी जेब में एक पाई भी न थी। वह सब भावों को भूल, राग की मूर्तिमती करुणा का ध्यान छोड़ वेश्या की तरफ़ घबराई दृष्टि से देखने लगे। वह बड़े अंदाज से झूमती और मुस्किराती हुई उन्हीं की तरफ़ आ रही थी। लज्जा और घबराहट से वह उठ खड़े हुए। एकाएक वह मित्रों के पास जाकर बोले—"माफ़ करना। मेरी तबियत बहुत खराब हो गई है। इसी से जाता हूँ।" मित्रों ने रोका, अनुरोध किया, पर वह ताबड़तोड़ हड़बड़ाकर सीधे घर भागे। मार्ग का अंधकार आज उन्हें अधिक मालूम हुआ। आँखों में वही मूर्ति रम रही थी।

तेरहवाँ परिच्छेद

प्रवीण ने घर पहुँचकर देखा, घर में सन्नाटा है। एक मिट्टी का दिया आले में टिमटिमा रहा था। और भी देखा, आज चौका-बासन वैसा ही जूठा पड़ा है, जिससे वह छोटा-सा घर और भी मलिन देख पड़ रहा है, और सुखदा अपनी कोठरी में अपने मैले बिछौने पर मैली साड़ी पहने पड़ी सो रही है। उसके बाल अव्यवस्थित रीति से बिखर रहे हैं। जो सुखदा का मुख सुंदर होता, तो उसका इस तरह सोना, ऐसे बाल बिखरना, ये सब निभ जाते; पर यही एक कठिनाई थी। प्रवीण ने नाक-भौं सिकोड़ और कुछ बड़बड़ाकर अपने कपड़े उतारे, और खाट पर बैठे; पर उनका मन वहाँ लगता न था। उन्हें घर में दुर्गंध भी मालूम पड़ती थी, और वह समझते थे, यह दुर्गंध सुखदा के श्वास की है। उन्होंने झुँझलाकर स्त्री का हाथ पकड़कर ज़रा हिलाया। सुखदा चौंककर जाग उठी, और पति को देख एकदम खड़ी हो गई। उसने घबराकर कहा—"तुम आ गए?"

प्रवीण ने झल्लाकर कहा—"दरवाज़ा खुला पड़ा है, और तुम मज़े में खुर्राटे भर रही हो!" सुखदा ने पश्चात्ताप की

दृष्टि से पति को देखकर कहा—"अभी बैठे-बैठे नींद आ गई। मैं अभी तक तो तुम्हारी बाट देख रही थी।"

प्रवीण ने दूसरी तरफ़ मुँह फेर और माथे में बल डालकर कहा—"ज़रा पीने को पानी दो।"

सुखदा बाहर आकर गिलास माँजने लगी। यह देख प्रवीण ने गर्जकर कहा—"तत्काल ही गिलास माँजना पड़ा? पहले से बासन माँजकर भी नहीं रक्खे गए?"

सुखदा ने नम्रता से कहा—"आज पानी नहीं था। इस-लिये काम रह गया। रोज़ तो चौका-बासन हो ही जाता है।" इतना कहकर वह घबराती हुई घड़े के पास गई, पर खेद की बात है कि सारा घड़ा उलटने पर भी केवल आधा गिलास पानी निकला। वह भी साफ़ नहीं था। घड़े की मिट्टी मिली थी।

सुखदा तो वहीं सूख गई। वह काँपती हुई क्रोधित स्वामी के पास धीरे-धीरे आकर बोली—"पानी तो घर में है ही नहीं। आज कहार आया ही न था।" प्रवीण ने क्रोध से अधीर होकर सुखदा के हाथ से गिलास छीनकर धरती पर दे मारा। झंखा-बावल सुनकर उनकी माता बाहर निकल आई। पर वह उसे ढकेल और कोट पहन घर से बाहर निकल गए।

घर से बाहर आकर वह कुछ देर सड़क पर खड़े रहे। जाना चाहिए, इसका कुछ निश्चय न हुआ। वह सीधे घर चले। गली में अँधेरा था और भगवती के बंद था। परंतु ऊपर रोशनी देखकर उन्हें कुछ

धीरज हुआ। उन्होंने दरवाज़ा खटखटाया। अब उन्हें चिंता लगी कि इतनी रात गए आने का क्या कारण बताऊँगा। पर उनका इरादा वहीं रात काटने का था। पहले भी ऐसे अवसर अनेक आए थे, पर उस समय भगवती अविवाहित था।

वृद्धा ने हाथ में दिया लेकर द्वार खोला और प्रवीण को द्वार पर देख, चौंककर बोली—"कुशल तो है? इस समय कैसे? घबरा क्यों रहा है?"

प्रवीण ने कठिनता से हँसकर, मन में संकोच करके कहा—"क्या बहुत देर हो गई है? आज जयकिशनजी के यहाँ न्योते में गया था। उधर ही से आ रहा हूँ। मन में आया कि भगवती से भी मिलता जाऊँ। तुम्हें देखे भी कई दिन हो गए थे।"

वृद्धा का मन ठिकाने आया। उसने हँसकर कहा—"तो चल, भीतर चल। मैं तो तुझे रोज़ याद करती हूँ। भगवती से आज भी कहा था।"

प्रवीण ने बैठकर कहा "फ़ुरसत ही नहीं होती थी। करूँ क्या? भगवती क्या ऊपर है?"

वृद्धा ने कहा—"हाँ, ऊपर सोता है।"

प्रवीण ने मुँह बनाकर कहा—"दिन छिपते ही सो जाता है भला आदमी। मा! तुमने इसे बिलकुल आलसी बना दिया है।" इतना कह वह ऊपर जाकर उसे जगाने के विचार से अपने आसन से उठे।

वृद्धा ने ज़रा घबराहट से हँसकर कहा—"रहने दे। इस वक्त क्यों जगाता है ? बहू भी ऊपर ही है।"

प्रवीण अपनी बात के अनौचित्य को समझकर लज्जित हुए। उन्होंने देखा, वृद्धा सोने के लिये जाती थी। उसका बिछौना भी तैयार है। वह बेवक़ूफ़ी करके बिना विचारे चले आए हैं। इसलिये अपने आपको धिक्कारने लगे। पर मन के खिसियानपने को छिपाकर बोले—"मा ! यह तो कहो, बहू तुम्हारे कहे की तो है ? या भगवती की ही बाँदी है ?"

वृद्धा ने कहा—"बेटा ! ऐसी बहू भगवान् सब किसी को दे। हमारी बहू तो साक्षात् लक्ष्मी है। जब से घर में आई है, तब से घर में चाँदना हो गया है।"

प्रवीण इस भाषण को सुन ही न सके। वह ऊपर से हँसकर बोले—"तब ठीक है। यही तो चाहिए भी। अच्छा, तो अब मैं जाता हूँ। तुम दरवाज़ा बंद कर लो।"

वृद्धा ने कहा—"और थोड़ी देर बैठ जा। कितने दिनों में तो आया है। जैसे भगवती को भूल ही गया हो।"

प्रवीण ने हँसकर कहा—"भगवती को चाहे भूल जाऊँ, पर मा ! तुम्हें तो नहीं भूल सकता।"

वृद्धा ने गर्व से हँसकर कहा—"मेरे लिये तो तुम दोनो बराबर हो।"

"भगवती को कल ज़रूर भेजना।" इतना कहकर प्रवीण घर से बाहर निकल गए। बुढ़िया ने द्वार बंद कर लिया।

चौदहवाँ परिच्छेद

रात के समय कहाँ जायँ ? यह विचार गोली की तरह मस्तक में घुस गया, और वह हज़ारों बोतल शराब के नशे में झूमते हुए एक तरफ़ को चले। उनके पैर लड़खड़ा रहे थे, हृदय धड़क रहा था, और दम घुट रहा था। आँखों के सामने ज़मीन नाच रही थी, पर वह उन्मत्त की तरह क़दम बढ़ाते हुए आगे चले जाते थे।

सड़क पर अँधेरा था। दूकानदार दूकानों को बंद करके चले गए थे। एकआध मनुष्य कहीं-कहीं देख पड़ता था। केवल पनवाड़ियों और दूधवालों की दूकानें खुली थीं। उनका प्रकाश दूर से चमक रहा था। प्रवीण को धुकधुकी लग रही थी कि कहीं कोई उन्हें देख न ले। पर सच पूछो, तो उनकी यह शंका निर्मूल ही थी। वह शीघ्र ही वेश्याओं के मुहल्ले में आ पहुँचे। यहाँ आकर उन्होंने एक बार अघाकर साँस ली। पर दूसरे ही क्षण मानो उनका कंठ रुँधने लगा। इस बाज़ार में अभी तक रौनक़ थी। कोठों पर झकाझक रोशनी हो रही थी। किसी-किसी झरोखे से सुरीली तान और तबले की धमक आ रही थी। कहीं हारमोनियम शोर मचा रहा था। कहीं सारंगी काँपती आवाज़ में सिसकारी भर रही थी। कुछ देर

वह सड़क पर खड़े रहकर उस धूल और कीचड़ से भरी सड़क के चार क़दम के अंतरवाले उस कोठे की तुलना करने लगे। उनकी आँखों में एक मदोन्मत्त दृश्य समा गया। वह उस कोठे में दाखिल होने के लिये तड़प उठे। एक पग उन्होंने आगे बढ़ाया, पर किसी अज्ञात शक्ति ने उन्हें सड़क पर ढकेल दिया। वह ऊपर न जा सके। अब वह बराबर ध्यान से एक-एक मकान पर नज़र दौड़ाते आगे चलने लगे। वह प्रत्येक कोठे पर चढ़ने का प्रयत्न करते, पर चढ़ने के समय उनकी हिम्मत हवा हो जाती। वह घबराकर आगे बढ़ जाते थे, मानो किसी चोरी के काम में जा रहे हों। उनका मन कहता था कि ऊपर चलकर बहार तो देख! डर क्या है? यह भी क्या कोई पर-स्त्री है? वह पर-स्त्री नहीं है। इसलिये तो समाज के सम्मुख बेधड़क अपना रूप-यौवन बेच रही है। इसे स्त्री होकर लज्जा नहीं। फिर मैं पुरुष होकर किस बात की लज्जा करता हूँ! उनके इस विचार की पुष्टि उनका तमाम विज्ञान, ज्ञान, विद्या और योग्यता करती, पर साहस साथ नहीं देता था। भीरुता कहती थी, ख़बरदार! ऊपर जाते ही मारा जायगा। वहाँ भयंकर आग जल रही है। घमंड कहता, ऊपर जाते ही नाक जड़ से कट जायगी। ग़ैरत कहती थी, धिक्कार! क्या तुझे यह शोभा देता है? वह क्षण-भर प्रत्येक मकान के नीचे खड़े रहकर एक ललचीली दृष्टि से उधर देखते और फिर आगे बढ़ चलते। इस छोटे-से बाज़ार में इधर-से-

उधर उन्होंने सैकड़ों चक्कर लगाए। रात गंभीर होने लगी। एक-एक करके सब कोठे बंद होने लगे। लोगों की भीड़-भाड़ भी छटने लगी। अब वह घबराकर किसी भी कोठे पर चढ़ने के लिये अपने मन में साहस बटोरने लगे।

अंत में एक घर पर वह चढ़ गए। पर दो-चार क़दम चढ़ते ही मानो किसी बीछू ने डंक मारा हो। इस तरह घबराकर भागे, और सीधी सड़क पर ही आकर दम लिया। इच्छा हुई कि चलो, घर चलें। पर मन वहाँ से चलने को राज़ी नहीं था। वह पीछे फिरे। अब की बार वह धीरे-धीरे एक मकान पर चढ़े। इस तरह क़दम रखते जाते थे कि जमीन पर गड़ न जाय। ऊपर जाकर बंद किवाड़ों की दरार में से देखा कि वहाँ कई आदमी बैठे हैं। वह चुपचाप नीचे उतर आए, और फिर घर जाने का मनसूबा करने लगे। पर मन मचल गया। अब की बार वह तीसरे मकान पर चढ़े। दो सीढ़ी चढ़ने पर ही मालूम हुआ कि कोई नीचे उतर रहा है। वह ताबड़तोड़ वहाँ से भागे। उनका तमाम शरीर पसीने से सराबोर हो रहा था। मुँह सूख रहा था, और हाथ-पैर काँप रहे थे। फिर भी वह घर की ओर न जा सके। वह सड़क पर एक मकान की काली छाया में खड़े होकर झरोखे में बैठी एक वेश्या को घूरने लगे। उस पर लैंप का तीव्र प्रकाश पड़ रहा था। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि वह उन्हें संकेत से बुला रही है। वह इधर-उधर देखकर ऊपर चढ़ गए। ऊपर की

सीढ़ी पर पहुँचते ही वह ज़रा घबराए। वह बाहर ही खड़े रहे। द्वार खोलकर भीतर जाने का उन्हें साहस न हुआ। भीतर से वेश्या ने कहा—"अंदर तशरीफ़ लाइए।" प्रवीण ने धड़कते हृदय से द्वार खोल भीतर प्रवेश किया। वेश्या ने सामने आकर कहा—"चले आइए, कोई नहीं है।" प्रवीण एकदम आगे बढ़े। देखा, वहाँ दो-तीन आदमी बैठे हैं, और दो-तीन स्त्रियाँ हैं। प्रवीण लौटने लगे। वेश्या ने रोककर कहा—"आइए न! ये तो अपने ही आदमी हैं।" प्रवीण को ऐसा मालूम हुआ, जैसे वे सब आँखें फाड़-फाड़कर उन्हीं की तरफ़ झाँक रहे और उन्हीं का उपहास कर रहे हैं। उन्हें मूर्ख और गँवार समझ रहे हैं। वह घबराकर उतरने लगे। इतने में एक अधेड़ स्त्री ने आगे बढ़कर उनका रास्ता रोक लिया। वह दोनो हाथ फैलाकर और मुस्किराकर मीठे स्वर में बोली—"भागते क्यों हो? आए हो, तो ज़रा बैठो।"

प्रवीण ने देखा, स्त्री बुढ़िया है। सूरत उसकी चुड़ैल के समान है। मुँह दंत-हीन पोपला, आँखें बैल के समान और सिर के बाल सन के समान हैं। बोलते समय उसके मुख से तमाखू के दुर्गंधित थूक की बौछार छूटती है। वह घृणा से पीछे हटकर बोले—"दूर रहो। हटो, रास्ता छोड़ दो।" बुढ़िया ने कहा—"एक मिनट तो बैठो, पान तो खाओ, यहाँ भी भले आदमी आते हैं। इस ठिकाने को ऐसा-वैसा न समझना।" इतना कह उसने शहर के दो-चार प्रतिष्ठित रईसों के नाम ले डाले।

प्रवीण को घबराते और इधर-उधर करते देखकर बुढ़िया ने पुकारकर कहा—"ला री, पान तो ला। तुम लोग कैसी बेवक़ूफ़ हो। पत्थर की तरह बैठी देखती रहती हो।" यह सुनकर एक युवती पानदान लेकर आगे आई। बेपरवाही से उसकी छाती पर का वस्त्र खिसक गया था। न उसकी आँखों में लज्जा थी, न शील। बुढ़िया ने कहा—"देखो, कैसी ख़ूबसूरत माशूक़ है।" इतना कहकर उसने युवती को डपटकर कहा—"ज़रा पास आ जा न, क्या तुझ पर बिजली पड़ती है, या यहाँ कोई बाघ है, जो तुझे खा जायगा।" युवती पास आकर प्रवीण से सटकर खड़ी हो गई, और एक कटाक्षपात करके उसने कहा—"पान तो खाइए!" प्रवीण ने देखा, वह तो वह वस्तु नहीं है, जो आग बुझावे। उन्होंने उधर से मुँह फेरकर कहा—"वही-वही। हटो, मैं जाता हूँ।" इतना कह वह द्वार की तरफ़ लपके।

बुढ़िया ने बाधा देकर कहा—"पान नहीं खाते, तो कुछ तश्तरी में तो डालिए।" प्रवीण ने अकचकाकर कहा—"तश्तरी में क्या डालूँ?" बुढ़िया बोली—"दो रुपए, चार रुपए, जैसी तुम्हारी तौफ़ीक़ हो।" प्रवीण बोले—"जब मैंने पान ही नहीं खाया, तब किसलिये डालूँ?" इतना कह वह चलने लगे। वेश्या ने हास्य को कुएँ में डाला और व्यंग्य से कहा—"गाँठ में पैसे नहीं हैं, और तमाशबीनी को निकले हैं! वही मसल है—'घर में नहीं दाने, और अम्मा चलीं भुनाने।'

प्रवीण अब ठहर न सके। वह दौड़कर नीचे की ओर चले। बूढ़ी ने जूता हाथ में लेकर जमीन पर पटापट लगाकर कहा—"मूजी के नाम पर एक-दो-तीन-चार-पांच-छ-सात।" इससे अधिक प्रवीण न सुन सके। उनका नशा उतर गया था। होश ठिकाने आ गए थे। आत्मग्लानि और लज्जा से वह मरे जाते थे। रह-रहकर अपने ऊपर क्रोध कर वह होठ चबा रहे थे। मन में होता था, फाँसी लगाकर मर जाऊँ। होठ सूख गए थे। जीभ तालू से सट गई थी। शरीर पसीने से लतपत हो गया था। वह तीर की माफ़िक़ अपने घर की तरफ़ चले।

रास्ते में पूर्ण शांति और अंधकार था। सब मकान बंद थे। सब दीपक बुझ गए थे। सड़क के नाके पर पहरेदार आवाज़ लगा रहे थे। कुत्ते पैर की आहट सुनते ही सोते-सोते भूँक उठते थे। प्रवीण मुँह छिपाए चले जा रहे थे। उन्होंने मन-ही-मन लाख बार प्रतिज्ञा की कि इस मार्ग पर अब न आवेंगे। घर पहुँचना उन्हें भारी हो रहा था।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

घर जाकर उन्होंने देखा, अभी दिया जल रहा था, और उसका प्रकाश बाहर से देख पड़ रहा था। उन्होंने झटपट ऊपर जाकर देखा, दरवाज़ा अभी तक खुला है। वह यह सोचते आते थे कि किस मुँह से जाकर उसे जगाऊँगा, और क्या कहकर बुलाऊँगा। एक तरफ़ आत्मग्लानि और अपमान उन्हें धरती में समा जाने को कहता था, और दूसरी तरफ़ मान और क्रोध घर जाने के नाम पर उनका पैर जकड़े हुए थे। पर इस समय कहीं बैठने या सोने का स्थान खोजने का अवसर भी नहीं था। जीवन-भर उन्होंने अपनी बद-मिज़ाजी से दूसरों का अपमान किया था। आज स्वयं अपमानित होकर उनकी आत्मा घोर संताप में पड़ गई थी।

जब उन्होंने घर में प्रकाश देखा, और ऊपर जाकर दरवाज़ा खुला पाया, तो वह विचार में पड़ गए, पर उनके पैरों का शब्द सुनकर सुखदा सावधान होकर ज़ीने में देखने लगी कि क्या पति आते हैं? एक बार चारो आँखें मिलीं। प्रवीण ने कातर दृष्टि से देखा, और भीतर चले गए। सुखदा ने कहा—"ज़रा अम्माजी को देख लो, उनका बेहाल हो गया

है।" प्रवीण ने पीछे फिरकर पूछा—"क्यों, क्या हुआ है ?" इतना कह विना उत्तर की प्रतीक्षा किए वह माता की खाट के पास गए। जाकर देखा कि माता कुछ अर्द्धमूर्च्छितावस्था में पड़ी है। उसी अवस्था में वह धीरे-धीरे कुछ बड़बड़ा रही है। आँखें उसकी फटी हुई हैं। सुखदा ने कहा—"अम्माजी ! यह आ गए हैं।" माता ने ज़रा मुख ऊपर करके पुत्र की तरफ़ देखा। वह दृष्टि कैसी करुण थी ? मानो निराशा और दुख फूट-फूटकर बह रहा हो। श्वास रुक गया था, और आँखों में आँसू ढरक रहे थे। निष्ठुर प्रवीण अभी तक मान में ही खड़े थे। वह चुपचाप शुष्क दृष्टि से माता को देख रहे थे। माता से पुत्र का यह व्यवहार न सहन किया गया। अब वह बिलख-बिलखकर रोने लगी। सुखदा ने कहा—"ज़रा इन्हें सँभालो, नहीं तो फिर मूर्च्छा आ जायगी। दो घंटे में अब ज़रा होश आया है।" प्रवीण माता के सिरहाने बैठ गए, और धीरे-धीरे उन्होंने माता का मस्तक गोद में ले लिया। पर उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। क्या कहें, यह उन्हें कुछ सूझा नहीं। वह मशीन की तरह माता का सिर गोद में रखकर बैठे रहे।

सुखदा ने कहा—"इस वक़्त थोड़ा दूध मिलता, तो अच्छा था।" प्रवीण ने कहा—"इस वक़्त दूध कहाँ मिलेगा ? दूकानें तो सब बंद हो गई हैं।"

वृद्धा ने आँखें बंद किए ही दूध लाने का निषेध किया।

प्रवीण ने पूछा—"मा ! तुम्हारी तबियत कैसी है ?"

वृद्धा ने धीरे-धीरे अपना हाथ ऊँचा करके पुत्र के शरीर पर फेरना शुरू किया। आंसुओं की अविरल धारा उसके सूखे मुख पर बहने लगी। प्रवीण के हृदय में मान की जो अटल दीवार खड़ी थी, वह एकाएक टूट पड़ी। उनके मन पर जो असह्य और अगाध बोझ पड़ा हुआ था, वह एकदम खिसक गया। आवेग में आकर वह माता का हाथ पकड़कर एक छोटे बच्चे की तरह रो उठे।

सुखदा घबरा गई। वह पति को ढाढ़स देने के अभिप्राय से कहने लगी—"यह क्या करते हो ?" पुत्र के आँसुओं ने दवा का काम किया। वृद्धा ने रूँधे हुए कंठ से कहा—"बेटा ! तू कहाँ चला गया था ? इस सुशीला बहू और दुखिया मा का तूने ज़रा ध्यान नहीं किया।" प्रवीण चुपचाप आंसू बहाते रहे। वृद्धा ने फिर कहा—"तुझे नन्हा छोड़कर ही तेरे पिता चल बसे ! तुझे ही छाती से लगाकर मैंने रँड़ापे और ग़रीबी के लंबे दिन बिताए। तरह-तरह के दुख सहकर तुझे बड़ा किया। तेरा विवाह किया। मुझे ऐसा लगता था कि बेटा जवान होगा, तब घर का दरिद्र भी दूर हो जायगा। तू जवान भी हुआ, पर इस घर का दरिद्र न गया। तेरे इस राज्य से तो मेरा वही वैधव्य का राज्य अच्छा था।" इतना कह वह फूट-फूटकर रोने लगी।

इस करुण तिरस्कार से प्रवीण का हृदय गलकर पानी-पानी

हो गया। अपने दुखों की, कुटुंब की निराधारता की मूर्तिमती भावना उनकी आँखों में रम गई। उनकी इच्छाएँ और अभिलाषाएँ जो गृहस्थी की चक्की में पिसकर चूर-चूर हो गई थीं, उनका बीभत्स रूप उस समय उनकी आँखों में खेल गया, और उनकी जो प्यास अब भी जीवित थी, वह उनके रोम-रोम में भाले चुभाने लगी। उन्होंने भरे हुए कंठ से कहा—"माता! मैं ही केवल सब अपराधों का मूल नहीं हूँ। संतान को उत्पन्न करके उसे संसार के पैरों में कुचलने को फेक देना यही माता-पिता का कर्तव्य नहीं है। मैं इस घर में, इस दशा से, संतुष्ट रहने की बहुतेरी चेष्टा करता हूँ, पर मुझसे रहा ही नहीं जाता है।"

बुढ़िया फिर एक बार जोर से रो पड़ी और बोली—"मेरे बेटे को इस अभागे घर में कुछ सुख नहीं मिला। मेरा बेटा क्या इस घर में रहने योग्य था! तू तो किसी राजघराने में जन्म लेने योग्य था। विधाता ने किसलिये मुझ ग़रीब राँड़ को तेरे-जैसा पुत्र दिया? बेटे! क्या जाने, तेरा भाग्य कैसा था। तेरा चंद्र-जैसा मुख केवल पेट भरने के लिये ही भटकते और चिंता करते कुम्हला जाता है। यह शरीर, ये हाथ-पैर क्या मजूरी करके कमाने के योग्य हैं?" कुछ ठहरकर और गहरी साँस लेकर वृद्धा फिर बोली—"बेटा! 'जा विध राखे राम, ताहि विध रहिए।' जब उसने इस घर में जन्म दिया है, तो यहीं रहना पड़ेगा। तू ही इस अभागिनी का एकमात्र

आधार है, तू ही इन अंधी आँखों की ज्योति है, तू ही इस घर की माया है बेटा ! संतोष का फल मीठा है। संसार में बहुत वस्तुएँ हैं, पर सबको सब चीज़ें नहीं मिलती हैं।"

प्रवीण चुपचाप नीचा सिर किए रो रहे थे। वृद्धा ने उनके आँसू पोंछकर कहा—"बेटे ! क्या मैं तेरे मन की व्यथा नहीं समझती ? पर करूँ क्या ? मेरे हाथों में कुछ उपाय नहीं है। विधाता के अंक तो मिट सकते नहीं।"

प्रवीण की आत्मग्लानि की हद हो गई थी। वह विचारने लगे, मैं कैसा कायर, पामर और नीच हूँ कि माता की निंदा करता नहीं लजाता। जिस माता ने जिस बिछौने पर मुझे जन्म दिया, उस बिछौने, उस घर को मैं तुच्छ और घृणित समझता हूँ, यह कैसा मेरा घमंड है ! क्या वास्तव में मैं राजा बनने योग्य था ? मेरे-जैसा अभिमानी, मूर्ख और निर्दयी पुरुष जो किसी सौभाग्य-स्थान पर हो, तो निश्चय सौभाग्य वहाँ से भाग जायगा।

माता ने कहा—"मेरे लाल, अब मत रो। हाय ! तुझे धीरज देने योग्य भी मुझमें बुद्धि नहीं है। मेरा हृदय किसी काम का नहीं है, और नक़ली वस्तु की कुछ क़ीमत भी नहीं है। मैंने जैसे छाती का दूध पिलाकर तुझे पाला था, वैसे ही अपने लोहू को बेचकर जो तुझे धनवान् कर सकती, तो मेरा जीवन सफल होता।"

प्रवीण हाहाकार करके माता के चरणों में गिर गए, और

बोले—"मा ! मैं धिक्कार के योग्य हूँ ! मेरे-जैसों को नरक में भी जगह नहीं मिलेगी। तुम्हारे-जैसे पूज्य, पवित्र चरणों को छोड़कर कहाँ भटकता हूँ। धन और संपदा तो मर्द के पैर में लोटती है, पर मेरे-जैसा नामर्द तो अधम दशा के ही योग्य है। मा ! मेरा अपराध क्षमा करो।"

सुखदा से यह सब न देखा गया। वह वहाँ से चली गई। वृद्धा ने पुत्र को छाती से लगाकर कहा—"बेटा ! पराई बेटी मोल नहीं बिकती है। दाता दान करके देता है, दान लेने-वाला भिखारी के समान तुच्छ है। जिस घर में पराई बेटी का अपमान होता है, उस घर में सुख नहीं होता। मैं जानती हूँ कि वह तेरे योग्य नहीं है, पर उसके समान सीधी गौ-कन्या ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। बेटे ! तूने उसे पहचानने की चेष्टा नहीं की। मैं उसे अच्छी तरह जान गई हूँ। जो वह न होती, तो तेरी यह दुखिया मैया कब की मर गई होती। बेचारी घोर अंधकार में आधी रात तक घर के धंधे में अपना खून पानी करती रहती है। दो बजे से पहले अन्न का दाना उसके मुख में नहीं जाता। तेरी उतारी हुई फटी धोतियाँ सी-सीकर पहनती, और तेरी जूठन खाकर अपनी सुहाग-भरी जवानी काट रही है। बेटे ! मोल ली हुई बाँदी भी इतनी गुलामी नहीं कर सकती। एक-एक करके उसके सब गहने अपने पेट में चले गए हैं। पर कभी मुँह पर मैल नहीं लाई। जब देखो, हँसती ही रहती है। तू सदा उसे फटकारता रहता

है, पर वह सब कुछ चुपचाप सह लेती है। मेरे बेटे ! जो उसे तेरा रत्ती-भर भी आदर मिले, तो उसके शरीर में सेर-भर रक्त बढ़ जाय।"

यह सब सुनते-सुनते प्रवीण का हृदय काँप उठा, मानो भीतर-ही-भीतर उसका गला घुट रहा है, और प्राण निकल रहे हैं। कुछ बोलने की चेष्टा की, पर बोल न सके। वृद्धा ने फिर करुण स्वर में कहा—"जब हमारे दिन थे, तब तेरे बाप ने कभी मुँह खोलकर एक शब्द नहीं कहा। सासजी बहूरानी कहके बुलाती थीं। ससुर घर में घुसते ही 'बेटा लक्ष्मी' कहकर पुकारते थे। वह जो ज़रा-सा भी काम करते देखते, तो सासजी से लड़ पड़ते थे। तुम्हारे पिता की यह रीति थी, मनों वस्तु घर में ला डालते थे। चाहे कितना ही नुक़सान हो जाय, पर मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालते थे। जब देखो, मुँह हँसी से खिला रहता था। वे दिन बेटे ! अब चले गए। वे सास और ससुर भी गए, और अंत में तेरे पिता भी गए। मैं ऐसी अभागिनी निकली कि बहू का जो-जो सुख इस घर में मैंने भोगा, वह अपनी बहू को न दे सकी। अभागिनी के भाग्य में ससुर का लाड़ तो मिला ही नहीं था। सास भी रोगिनी मिली। मैं उसे सुख तो क्या देती, उसी को मेरी सौ टहल करनी पड़ रही है। यह उमर खाने, पहनने की और मौज करने की थी, पर विधाता ने उस पर पूरी गृहस्थी का बोझ डाल दिया है। तिस पर भी बेटे ! तू उसे सीधी नज़र

नहीं देखता, वह बेचारी दुखिया किसकी तरफ़ देखे ? किसका आसरा तके ? अबला स्त्री की पुकार पति तक ही तो है। जो वह पति का आदर, उसकी मीठी नज़र न प्राप्त कर सके, तो उसे कुछ नहीं सूझता, और जो एक वह आदर मिले, तो स्त्री हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर कर सकती है।" इतना कहकर वृद्धा ने अपने आँसू पोंछ डाले।

इसी समय सुखदा उदास मुख से वहाँ आ खड़ी हुई। प्रवीण को उस समय ऐसा मालूम हुआ कि अंधकार में से उनके पैशाचिक अत्याचार की मलिन मूर्ति बनकर खड़ी हो गई है। सुखदा उन्हें तपस्विनी-सी भासने लगी। करुणा से उनकी आंखें भर आईं। वह नीची नज़र करके मानो धरती में गड़ गए।

वृद्धा ने पुत्र की पीठ पर हाथ फेरकर प्यार की थपकी दी। फिर बहू से कहा—"बहू ! जाओ, सो जाओ। क्या रात-भर आँखों में ही बीतेगी ?"

प्रवीण इतने लज्जित हो गए थे कि वह एक शब्द बोले बिना वहाँ से उठ आए। सुखदा उन्हें बिछौने पर सुलाकर फिर सास की सेवा करने जाने लगी। प्रवीण ने उसका हाथ पकड़ लिया, पर कुछ बोले नहीं। सुखदा ने कहा—"तुम सो रहो, मैं ज़रा अम्माजी के सिर में घी की मालिश कर दूँ।" प्रवीण न सुखदा के मुख की तरफ़ देख सके, न बोल सके। वह सुखदा के पैरों में लोटकर करुण क्रंदन करने लगे। सुखदा

ने घबराकर कहा—"हटो ! हटो ! यह क्या करते हो !" प्रवीण ने कुछ सुना नहीं। सुखदा ने अत्यंत कठिनाई से पैर छुड़ाए। प्रवीण ने रुँधे कंठ से कहा—"देवी ! मैं पति होकर तेरे साथ पशु की तरह व्यवहार करता हूँ, और तू स्त्री होकर पति की तरह मेरी रक्षा करती है।" सुखदा पत्थर की प्रतिमा की तरह खड़ी रही। उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। प्रवीण से न रहा गया। उन्होंने उसे खींचकर छाती से लगा लिया। बहुत दिन पीछे पति का यह प्यार पाकर सुखदा की आँखों में आँसू उमड़ आए, और उसी अँधेरी कोठरी में स्वामी की गोद में सिर रखकर वह बड़ी देर तक रोती रही। रोते-रोते ही वह सो गई। प्रवीण इस रात क्षण-भर न सो सके। वह साध्वी सुखदा को छाती से लगाकर अपने अनुताप की आग को बुझाने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहे।

सोलहवाँ परिच्छेद

सूर्य अपनी तेजोमय किरणों से अत्यंत गंभीरता-पूर्वक खारे समुद्र से रस के कण चुन-चुनकर अति परिश्रम से आकाश में संचय करता है। वह जलबिंदु न मलिन होता है, न खारा। पर आकाश में उसे कोई आधार नहीं होता। उसका पतन होना स्वाभाविक बात है। वह धरती में गिरकर धूल में मिल जाता है।

भगवती की स्थिति भी ऐसी ही थी। वह अत्यंत सरल और आनंदी स्वभाव का मनुष्य था, और उसे आनंद की मूर्ति-रूप बहू मिली थी। पर प्रवीण का दुख उसमें धूल की तरह मिल गया था। उसे उसके सुख में कुछ न्यूनता दिखाई देती थी।

पहले तो प्रवीण की उदासी की तरफ़ उसका कुछ ध्यान ही न था। पर पीछे जब इस संबंध में बातचीत हुई और स्त्री का प्रिय समागम उसे प्राप्त हुआ, तब स्त्री-पुरुष के प्रेम का अभाव या उदासीनता कैसा कष्ट है, उसे गंभीरता से दीख पड़ने लगा, और वह मित्र के दुख से रोज़-रोज़ दुखी होने लगा। यहाँ तक कि जब उसे बहू से अत्यंत सुख मिलता, तब वह प्रवीण की बात अपनी स्त्री से कह ही देता।

वह बहुत सोचता था, पर प्रवीण की इतनी गहरी उदासी

का कोई कारण नजर नहीं आता था। वह इस विषय में प्रवीण के साथ स्पष्ट रूप से बात करते हुए हिचकता था। क्योंकि वह यह समझता था कि प्रवीण के इस दुख का मुख्य कारण सुखदा है। पर यह बात किसी तरह उनके मग़ज़ में बैठती ही न थी कि सुखदा-जैसी कर्मनिष्ठ और मधुर स्वभाव-वाली स्त्री से उसे इतनी विरक्ति कैसे हो गई है!

वह बहुधा अपने सुखी जीवन की घटनाओं को लेकर घर से निकलता। ये घटनाएँ सदा उसके कंठ तक भरी रहती थीं। वह उमंग और आनंद की लहरों में प्रवीण के पास जाता। क्योंकि इस उल्लास को व्यक्त करने के योग्य उसे अन्य स्थान न मिलता था, पर प्रवीण की अत्यंत उदासी को देखकर उसका हृदय ठंडा पड़ जाता था। वह न तो प्रवीण को दिलासा ही दे सकता था, और न भीतर के सुख को ही छिपाने में सफल होता था।

नए स्त्री-पुरुषों को प्रथम बार गर्भस्थिति-प्रसंग बहुत ही आह्लाद-जनक होता है। भगवती को यह सौभाग्य भी मिला। आनंदी और सरला पत्नी के सुख से अत्यंत सुखी भगवती की स्थिति इससे कैसी हो गई? वह कुछ दिन तो पागलों की तरह हो गया। आनंद के सागर में तैरने लगा। साथ ही उसे यह विचार भी हुआ कि प्रवीण के ब्याह को इतने दिन बीत गए; फिर भी उसे यह सुख क्यों नहीं मिला? पहले तो उसे इन बातों का कुछ ध्यान भी न था, पर अब उसे प्रवीण के भाग्य

पर अत्यन्त दया आने लगी। स्वयं अत्यंत उल्लास में होने पर भी मित्र की उदासीनता देखकर वह अपने मन की बात छिपाने लगा। पर उसे यह कब खबर थी कि यह बात छिपी न रहेगी। एक दिन उसकी मा ने कहा—"जा जल्दी, अपनी भाभी और प्रवीण को बुला ला, और प्रवीण से एक दाई ले आने को भी कह देना।"

पहले तो वह घबराया, पर उसे जाना ही पड़ा। मन में उल्लास था। पर बड़े कष्ट से उसने उसे दबाया। वह प्रवीण की दूकान पर पहुँचा। देखा, तो वही उदासी उनके चेहरे पर थी। भगवती गंभीर होकर चुपचाप बैठ गया। पर इस समय इस तरह चुपचाप बैठना कठिन काम था। पर जल्दी करने से मन की प्रसन्नता प्रकट करने का डर था। दुखी प्रवीण के पास यह प्रसन्नता कैसे प्रकट की जाय? अंत में प्रवीण ने ही पूछा—"भगवती, आज उदास कैसे हो?"

भगवती के जी में जी आया। उसने कहा—"उदास तुम हो कि मैं?"

प्रवीण ने कहा—"पर मेरी उदासी की तो कुछ बात ही तुमने नहीं पूछी?"

भगवती लज्जित हुआ। कहा—"क्या तुम्हारे जी में कुछ बेचैनी है?"

प्रवीण ने ठंडे स्वर में कहा—"तुम्हें कैसा मालूम होता है?"

भगवती घबराया। उसने सिर खुजलाकर कहा—"सदा की तरह ही उदास मालूम देते हो!" इतना कह वह कुछ और कहने का अवसर देखने को प्रवीण की तरफ़ देखने लगा। प्रवीण ज़रा हँसकर चुप रहे। इसी हँसी में मन की सब बात बाहर निकल गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई बालक कोई गंभीर बात पूछे, और वह हँसी में टाल दी जाय। उसी तरह प्रवीण की हँसी में भगवती की बात का जवाब भी टल गया। उसने सहज स्वभाव कहा—"इस वक़्त कैसे आए?"

भगवती ने कहा—"तुम्हारा जी कैसा है, यह तो कहो।" प्रवीण ने उसके मुख पर आँख गड़ाकर कहा—"तो क्या तुम मेरे जी का हाल पूछने यहाँ आए हो?" भगवती ने नीचा सिर करके कहा—"तुम्हें मा ने बुलाया है।"

प्रवीण ने पूछा—"क्यों?"

भगवती ने दबी ज़बान से कहा—"भाभी और माजी तो गई होंगी। मैं वहाँ कहता आया हूँ। एक दाई को भी बुलाते लाने को कहा है।"

प्रवीण ने कहा—"दाई! तो ऐसी फ़ुर्सत में कैसे बैठा था? तू घर चल, मैं दाई को लेकर आता हूँ।"

SIXTEEN

सत्रहवाँ परिच्छेद

दाई ने घबराई आवाज़ में भीतर से आकर कहा—"बाबू! डॉक्टर बुलाओ, डॉक्टर। बच्चा अटक गया है। ज़रा फुर्ती करो।"

भगवती तो एकदम घबरा गया। प्रवीण बिना एक क्षण का विलंब किए डॉक्टर लाने को दौड़े।

घर-भर में व्यग्रता छा रही थी। दाई दौड़-धूप कर रही थी। भगवती का मन उछल रहा था, पर उसे कुछ काम नहीं सूझता था। बुढ़िया बैठी भगवान् को याद कर रही थी। सुखदा सौर-गृह में दाई की सहायता कर रही थी, और उसकी सास वृद्धा के पास बैठी उसे ढाढ़स दे रही थी।

डॉक्टर ने आते ही जच्चा को सँभाला। रह-रहकर घर के भीतर से बहू के कराहने की वेदना-भरी आवाज़ आ रही थी। उसे सुन-सुनकर भगवती के प्राण मुँह को आते थे। एकाएक बच्चे के रोने का शब्द कान में पड़ा। सब चौंक उठे। क्षण-भर में ही दाई ने बाहर आकर भगवती से कहा—"बेटा हुआ है। लाओ बख़शीस।" भगवती पागल की तरह भौंचक होकर दाई की तरफ़ देखने लगा। प्रवीण ने अपनी उँगली से सोने की अँगूठी निकाल दाई के पल्ले में डालकर

पूछा—"कुछ डर की बात तो नहीं है न, बहू तो राजी-खुशी है ?"

दाई ने कहा—"बहू बेहोश है। डॉक्टर उसकी सँभाल कर रहे हैं। मैं जाकर बच्चे को सँभालती हूँ। भगवान् जीता-जागता करे।" इतना कहकर दाई भीतर चली गई।

भगवती ने अधीर होकर कहा—"भैया ! चलो, भीतर चलकर देखें, उसका क्या हाल है ?" प्रवीण ने कहा—"ठहरो, डॉक्टर को निकलने दो। घबराते क्यों हो ?"

भगवती फिर कुछ न बोले। थोड़ी देर बाद डॉक्टर ने बाहर आकर कहा—"बच्चा सकुशल हो गया है, पर बहू को बेहोशी हो रही है। कुछ घबराने की बात तो नहीं, पर सँभाल सावधानी से होनी चाहिए। आप लोगों में से एक आदमी, हर समय वहाँ बना रहना चाहिए, और दवा-पानी ठीक समय पर देते रहना चाहिए।" इतना कहकर डॉक्टर चले गए।

प्रवीण और भगवती भीतर गए। बच्चे को दाई सँभाल रही थी। प्रवीण और भगवती दोनो ही सब कुछ भूलकर क्षण-भर निर्निमेष दृष्टि से उसे देखते रहे। एकाएक प्रवीण मानो चैतन्य होकर बहू की खाट की तरफ़ को फिरे। वहाँ सुखदा उसका सिर गोद में लिए बैठी थी। प्रवीण ने दूर ही से पूछा—"क्या एक बार भी कुछ सुध नहीं हुई ?" सुखदा ने कहा—"बिलकुल अचेत पड़ी है। शायद कुछ ज्वर भी हो गया है।"

प्रवीण ने कहा—"ठीक है। तुम लोग नहा-धोकर भोजन से निबट लो, और थोड़ा सो लो, तब तक मैं यहाँ रहूँगा। दवा की शीशी मेरे पास रख दो।"

सुखदा ने कहा—"अम्माजी से रसोई बनाने को कह दो, और आप लोग भोजन कर लें। मैं आज रात-भर यहाँ रहूँगी।"

प्रवीण ने कहा—"नहीं, भोजन तुम्हीं बना लो। मैं और भगवती यहाँ हूँ।" सुखदा को लाचार प्रवीण की बात माननी पड़ी। सुखदा ने नहा-धोकर भोजन बनाया। सबने भोजन किया। भोजन करते ही सबसे प्रथम भगवती बहू के सिरहाने आ डटे।

प्रवीण ने आकर देखा, और मुस्किराए। फिर बोले—"भगवती! तुम जरा सो लो। मैं तुम्हें पीछे जगा दूँगा। तब तक मैं इनकी सँभाल करता हूँ।" भगवती ने बहुत तर्क-कुतर्क किया, पर प्रवीण के आगे एक न चली।

भगवती सोने को चले गए। सुखदा ने भी प्रवीण को बहुत कहा, पर वह वहीं रहे। सुखदा को भी सोने को भेज दिया।

धीरे-धीरे रात गंभीर होने लगी। घर-भर में सन्नाटा था। घड़ी की टक्-टक् आवाज़ जोर से सुन पड़ती थी। प्रवीण पलंग से कुछ हटकर एक कुर्सी पर कुछ देर स्तब्ध बने बैठे रहे। उनके मस्तिष्क में विचार और उद्वेग की धाराएँ उठ रही थीं। वह सोच रहे थे, जिस मुख को एक झलक देखने को इतनी

व्याकुलता, व्यग्रता और परेशानी होती थी, आज वह सर्वथा अरक्षित सामने पड़ा है। ऐसी दशा में क्या एक बार जी भर-कर देख लेना अनुचित होगा? ऐसा करना अनुचित होगा या उचित, यही वह विचार रहे थे, पर कुछ निर्णय नहीं होता था। एक दूसरे के विरोधी भाव उनके मन में उठ रहे थे। वह बारंबार इस बात को भी सोचते थे कि इतने हठ और तत्परता से किसलिये मैं यहाँ रह गया? और सबको सुला दिया। पर इसका कोई कारण वह समझ न सके थे। क्या उनके मन में प्रथम ही से एकांत में बहू का मुख देखने की वह आसुरी इच्छा थी, या उस समय अवसर और घटना-क्रम से वह लालसा उत्पन्न हुई है? विचारते-विचारते वह कुर्सी पर बैठे न रह सके। हड़बड़ाकर उठ बैठे। पर उठकर वह सीधे पलंग के पास न जा सके। वह एक खिड़की के पास खड़े होकर आकाश के क्षीण चंद्रमा को देखते हुए बारंबार अपने मन को शांत और दमन करने की चेष्टा करने लगे।

परस्त्री की ऐसी विवश अवस्था में लज्जा अपहरण करना कैसा निंद्य और नीच काम है, यह बात क्या प्रवीण समझ नहीं सकते थे? पर वह जितनी ही इस इच्छा को रोकते थे, उतनी ही वह मानो उनकी छाती को फोड़-फाड़कर बाहर निकलती थी। वह कुछ निर्णय तो न कर सके, पर देर तक चंद्रमा का भी निरीक्षण न कर सके। खिड़की के पास से कुछ उलककर वह पीछे फिरे, पर वह कुर्सी की तरफ न जा सके,

मानो किसी वज्र-शक्ति ने उन्हें पलंग के पास ला खड़ा किया।

उन्होंने कुछ भुनभुनाते हुए आप-ही-आप कहा—"क्या देख लूँ? एक बार देख लेने में क्या हानि है?" इतना मुख से निकलते ही वह भयभीत होकर चारों तरफ़ देखने लगे। उन्हें ऐसा बोध हुआ कि कमरे की मेज़-कुर्सियों ने, तस्वीरों ने, पानी की सुराही ने उनकी बात सुन ली है, और वे सब वस्तुएँ मानो एकटक उन्हीं की ओर देख रही हैं।

धीरे-धीरे प्रवीण के नेत्रों में उन्माद के-से चिह्न उत्पन्न होने लगे। उनके शरीर की गर्मी बढ़ गई। उन्होंने एक बार पागल की तरह प्रत्येक तस्वीर, मेज़-कुर्सी और सामान को देखा। फिर दौड़कर दरवाज़ा अच्छी तरह बंद कर आए, और फिर पलंग के पास खड़े हो गए।

यह काम जैसे किसी जादू या मेस्मेरेज़म के बल पर उन्होंने किया हो। एकाएक उनके मन में विचार आया, तब क्या मैं उस काम की तैयारी कर चुका? क्या अब उस मुख को देख लूँ?

यह विचार आते ही उनके शरीर से पसीना टपकने लगा। नेत्रों में वही उन्माद था, शरीर में कंप हो रहा था। फिर भी उन्हें बहू का घूँघट उठाने का साहस न हुआ। वह बड़ी देर तक अचल पत्थर की मूर्ति की तरह वहीं खड़े रहे।

उन्होंने फिर आप-ही-आप कहा—"निस्संदेह मैंने इसीलिये

हठ करके यह अवसर पाया है। एक बार देख लेने में क्या है। इसमें डरने की बात भी क्या है ?' वह पलंग पर झुके, काँपते हाथों से उन्होंने बहू के मुख का वस्त्र धीरे-धीरे ऊपर को उठाया, पर वह देख न सके। जैसे एकाएक सूर्य को कोई नहीं देख सकता है। उन्होंने तत्काल मुख फेर लिया, और वस्त्र छोड़ दिया।

मुख ढक जाने पर वह चौंक पड़े। यह क्या मूर्खता थी ? अब उन्होंने साहस करके फिर वह वस्त्र उठाया। पीला स्वर्ण के समान वह मुख चुपचाप श्वास ले रहा था। नेत्र आधे बंद थे। ऐसा मालूम होता था, मानो बहू अत्यंत अलकसाए, मद-भरे नेत्रों से छिपकर उन्हें देख रही है। प्रवीण घुटने धरती पर टेककर वहीं बैठ गए, और अब उन्होंने छककर उस मुख को अच्छी तरह देखने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

कितनी देर वह निर्निमेष दृष्टि से बैठे उस दृश्य को देखते रहे, इसका कुछ पता नहीं, परंतु देखते-देखते उनके मन में आसुरी भावों का उदय होने लगा। बहुत रोकने पर भी उनकी दृष्टि श्वास के साथ धौंकनी की तरह ऊपर-नीचे उठते हुए बहू के पीन स्तनों पर रपटने लगी। उधर न देखने की वह जितनी ही इच्छा करते, उतना ही उधर देखते थे। क्षण-क्षण में उनकी इच्छा मुँह ढक देने की होती थी, पर मुख को ढक नहीं सकते थे। कहते लज्जा और ग्लानि आती है। वह विवेकी और सहृदय पुरुष अंत में वह कुत्सित कर्म करने को

भी उद्यत हो गया। उसने काँपते हाथों से बहू के जाकट के बटन खोल डाले।

मूर्च्छिता कुल-वधू का अत्यंत गोपनीय वह अंग धीरे-धीरे वस्त्र से बाहर होने लगा, और प्रवीण कायर उन्मत्त की तरह व्याकुल दृष्टि से उसे मन भरकर देखने की हवस करने लगे। स्वच्छ संगमरमर-सी छाती पर सेब के समान दोनो स्तन नग्न पड़े थे। सुराही-सी श्वेत गर्दन पर वह स्वर्ण कमल के समान मुख मूर्च्छित उघरा पड़ा था, और प्रवीण कभी यह, कभी वह, अत्यंत घबराहट से देख रहे थे। कितनी बार उनकी इच्छा वधू के उस गोपनीय यौवन को स्पर्श करने की हुई। उन्होंने हाथ बढ़ाए भी, पर छू न सके। किसी अज्ञात शक्ति ने धक्का मारकर उन्हें रोक लिया। उस रात्रि के सन्नाटे ने मूर्तिमान् होकर उन्हें धिक्कारा। उन्हें अपने ही श्वास से धिक्कार की ध्वनि निकलती दिखाई दी। उन्होंने वस्त्र से बहू का अंग ढक दिया, और धरती पर गिरकर दोनो हाथों से मुँह ढाँककर रोने लगे।

बहुत रोए। बहुत रोए, रोकर वह वहीं धरती पर बैठे रहे। टन-टन करके घड़ी ने दो बजाए। दवा का समय देख वह उठे। गिलास में दवा डाल उन्होंने उसे बहू के मुख में डाल दिया। उस समय उन अरुण अधरों को उनकी उँगली का स्पर्श हो गया। उस उँगली को उन्होंने इस तरह चमककर खींच लिया, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। दवा कंठ में

उतरते ही बहू ने आँखें खोल दीं। एक बार चारो तरफ़ घूमकर उसकी दृष्टि प्रवीण पर पड़ी। उन्हें देखते ही उसने सिर का वस्त्र सँभालने को हाथ उठाया। यह देख प्रवीण ने वस्त्र से उसका सिर ढक दिया, और मधुर स्वर से कहा—"बहू ! भगवती के लिये तुमने कैसा सुंदर खिलौना बनाया है ! देखोगी ?" एक अनिर्वचनीय लज्जा आखों में और एक मधुर मुस्किराहट बहू के नेत्रों में छा गई। इस बार उसने खुले मुख पर उसी लाज और हास्य को लिए आँख भरकर क्षण-भर के लिये प्रवीण की ओर देखा। प्रवीण ने पलंग पर झुककर बहू की बग़ल में सोते हुए बालक का मुख उघार दिया। बहू उस मुख को आँख भरकर न देख सकी। उसने धीरे-धीरे आँखें बंद कर लीं। प्रवीण ने बहू से धीरे से कहा—"बहू ! तुमने अपने ही समान इसे भी सुंदर बनाया है। ईश्वर करे, तुम और तुम्हारा यह खिलौना चिरंजीव हो, पर कभी-कभी इससे मुझे भी खेलने दिया करोगी ?" प्रवीण की दृष्टि में कितने प्रश्न थे, पर यह बात सुनकर जब बहू ने प्रवीण की ओर फिर एक बार देखा, तो उस दृष्टि में मानो प्रसाद और वरदान बरस रहे थे। क्षण ही भर में अत्यंत लजाकर धीमे स्वर से बहू ने कहा—"वह क्या सोते हैं ? ज़रा बुला दीजिए।" प्रवीण ने धीरे-धीरे पलंग पर झुककर बच्चे को चूमा, और एक दृष्टि बहू पर फेंक, फिर घड़ी की ओर देख वह कमरे से बाहर निकल आए।

भगवती को बहू के कमरे में भेजकर वह विश्राम करने के बहाने सीधे अपने घर आ गए। भगवती ने पुत्र और स्त्री को उस सुख-घड़ी देखकर क्या किया, यह लिखना हमारा विषय नहीं है। हां, प्रवीण उस रात-भर अपने सूने घर में धरती पर पड़े रोते रहे।

अठारहवाँ परिच्छेद

सुखदा और उसकी सास भगवती के घर बहू का हाल पूछने गई थीं। प्रवीण छत पर जलती हुई टीन के नीचे एक चटाई पर औंधे पड़े थे। प्रातःकाल सुखदा जो कपड़े सूखने को छत पर डाल गई थी, वे इधर-उधर छितराए पड़े थे। धूल-गर्दा उड़-उड़कर इधर-उधर इकट्ठा हो गया था। भगवती ने वहीं पहुँच एक आवाज़ दी। प्रवीण बैठ गए।

भगवती ने उनका यह ठाट देख अचरज से कहा—"क्यों, तबियत तो अच्छी है? इस तरह औंधे-मुँह क्यों पड़े हो?" प्रवीण ने एकाएक कहा—"मैं मनुष्य से पशु और विद्वान् से मूर्ख बनना चाहता हूँ, बिना कुछ करे-धरे चुपचाप इस तरह पड़े रहने में बड़ा सुख-सा मिलता है।"

भगवती का आश्चर्य बढ़ गया। यहाँ मैली धरती में धूप की गर्मी में पड़े रहने से इसे सुख मिलता है? यह बात उसकी समझ में न आई, और मनुष्य से पशु बनने की बात तो एकदम नवीन मालूम हुई। उसने कहा—"कहते क्या हो?"

प्रवीण ने कुछ और दृढ़ स्वर में कहा—"तुममें सुनने की ताक़त हो, तो कहूँ?"

"कहो।"

"मैं उस दिन वेश्या के घर गया था।"

भगवती के सिर पर वज्र गिरा। वह आंखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देखने लगा। फिर बोला—"क्या बकते हो?"

प्रवीण ने फीकी हँसी हँसकर कहा—"जाने दो, मत सुनो।"

भगवती एकटक उनकी ओर देखने लगा। उसने कहा—"क्या सच?"

"नहीं तो क्या झूठ?"

"मेरे सिर पर हाथ रक्खो।"

प्रवीण ने तत्काल हाथ रख दिया। भगवती ने उनका हाथ पकड़कर कहा—"क्यों गए थे?"

"और कहीं जगह ही नहीं मिली।"

"क्यों? घर में क्या आग लग गई थी?"

प्रवीण ने ठंडे स्वर से कहा—"हां।"

भगवती ने कुछ ठहरकर कहा—"तब मेरे घर क्यों न चले आए?"

"गया था। उस समय तुम बहू के साथ सुख-निद्रा में सो रहे थे।"

भगवती ने आशंका की दृष्टि से देखते-देखते पूछा—"फिर वहां जाकर क्या किया?"

"कुछ नहीं। अभ्यास नहीं था न। बड़ी देर तक तो सड़क पर ऊँट की-सी गर्दन उठाए फिरता रहा। पीछे एक कोठे

पर चढ़ गया। वहाँ जूती, गाली और फटकार खाकर घर लौट आया।"

भगवती ने दुख से कहा—"यह तुमसे कैसे हुआ? तुम-ऐसे आदमी से यह काम? राम-राम!"

"मैं उस समय पशु बन गया। उस पशुपन में एक मजा था। जो मूर्ख भी बन जाता, तो जूते, गाली की परवा न कर मजे में कहीं मौज करता। वहाँ अँधेरा था। तभी से मैं अँधेरे को चाहता हूँ, और मनुष्य से पशु और विद्वान् से मूर्ख बनने का अभ्यास कर रहा हूँ। मुझे इसमें कुछ सुख भी मिल रहा है।"

भगवती ने आतुरता से कहा—"आखिर तुम्हें यह बुद्धि सूझी कैसे?"

प्रवीण ने सब कथा कह सुनाई। भगवती सुनकर रोने लगा। वह दोनो हाथों से मुँह ढाँप बैठ गया। प्रवीण कुछ बोले नहीं, वह एकटक मित्र का रोना देखते रहे। उनके चेहरे पर क्या भाव था, यह पहचानना कठिन था।

भगवती ने एकाएक प्रवीण के पैरों में दोनो हाथ देकर कहा—"भैया! तुम अब उधर नहीं जाना। जो हुआ, सो हुआ।"

प्रवीण ने कुछ कहा नहीं। वह चुप अचल बैठे रहे। उन्होंने भगवती के मुख पर से अपनी दृष्टि भी हटा ली।

भगवती बड़ी देर तक करुण स्वर में कहते रहे। प्रवीण

ने एकाएक कुछ कठोर स्वर में कहा—"मैं आज ही उधर जानेवाला हूँ।"

भगवती ने भौचक होकर उनकी तरफ़ देखा। उसने कहा—"सर्वनाश! क्या आज ही फिर?"

प्रवीण ने कहा—"मैं जिस बात का अभ्यास करता हूँ, उसे शीघ्र ही सीख लेता हूँ। अब तुम देखो, मैं कितनी शीघ्रता से पशु बना जाता हूँ।"

भगवती ने आतुरता से कहा—"हे भगवान्! यह क्या सुनता हूँ!" उसने कहा—"भैया! इस मार्ग को छोड़ो, उधर भूलकर भी न जाना। भाभी की तरफ़ देखो, बूढ़ी मा को देखो, मेरी तरफ़ देखो, और अपनी तरफ़ देखो।"

प्रवीण ने बीच ही में बात काटकर कहा—"सबको देखता हूँ, पर यह मार्ग छुट नहीं सकता है।"

"क्यों नहीं छुट सकता है? लोग बड़ी-बड़ी बुरी आदतें छोड़ देते हैं। तुम तो अभी उतने बुरे नहीं हो। तुम क्यों नहीं छोड़ सकते?"

प्रवीण ने कुछ गर्म और कुछ बेचैन स्वर में कहा—"जो छोड़ देते हैं, उनके और भी सुख होते हैं। उन्हीं के भरोसे वे छोड़ देते हैं। मेरे लिये और कौन सुख है?"

भगवती कुछ दुखी हुआ। उसने गर्मी के स्वर में कहा—"तुम्हें किस बात का दुख है? भगवान् ने तुमको कैसा सुंदर

शरीर, बुद्धि, विद्या और योग्यता दी है! ऐसी क्या सब किसी को मिलती है?"

प्रवीण ने व्यंग्य के स्वर में हँसकर कहा—"और भी आगे बोलो। बुद्धि, विद्या और योग्यता पर ही क्यों रुक गए? भगवान् ने और भी बहुत-से सुख के सामान दिए हैं। धन-धान्य से भरा घर, परी-सी सुंदरी स्त्री और धुआँधार रोज़गार, मान-सम्मान, सब बोलो, अधूरी बात कहकर ही क्यों रुक गए?"

भगवती निरुत्तर हुआ। वह नीची नज़र किए बैठा रहा।

अब प्रवीण अत्यंत विषाद-युक्त वाणी से बोले—

"यह आशा न थी कि मेरी आयु के मध्य भाग में ही मुझे धोखा होगा। लोग कहा करते हैं कि जवानी दीवानी होती है। पर मेरी जवानी को क्या सर्दी मार गई? वह तो कभी दीवानी हुई ही नहीं। बचपन में बहुत दिन हुए, जब हम लोग स्कूल में पढ़ते थे, तब तुम्हारे प्यार की एक झलक मिली थी। तब एक अंकुर हृदय में उगा था। वह आज कहाँ है? मेरी समझ में मेरी जवानी से भी अधिक उसकी दुर्दशा हुई है।

"मैं यह जानता हूँ कि मेरी स्त्री मुझे बेतोल प्यार करती है। पर ज्यों-ज्यों मैं उस प्यार में तृप्ति नहीं पाता हूँ, उमंग नहीं पाता हूँ, त्यों-त्यों मैं समझ रहा हूँ कि स्त्री का केवल प्यार ही पुरुष के लिये सब कुछ नहीं है। इस भयंकर संसार में, भयंकर युद्ध में, केवल प्यार को पीकर कोई नहीं जी सकता।

है। यह सच है कि वह अमृत है, पर अमृत अमर ही कर देगा। अमर होना ही बड़ी वस्तु है? न, मैं यह न मानूँगा, यह बात झूठ है। अमर होना ही यदि कोई बड़ी वस्तु होती, तो लोग आत्मघात करके न मरते। अमर होने पर सुखी जीवन होना चाहिए। सुखी जीवन के हृदय का आहार, काम, जीवन, तृप्ति और सम्मान चाहिए। सो कुछ मुझे मिला नहीं। मिला प्यार। केवल प्यार। सूखा और फीका। न उसमें नमक, न मिर्च, न गरमी। इस प्यार से क्या हृदय का उजाड़पन दूर होगा? यह झूठ बात है। यह असंभव है।"

इसके बाद क्षण-भर के लिये प्रवीण स्तब्ध हो गए। फिर वह उत्तेजित होकर बोले—

"और कुछ न होता, मुझे एक नन्हे-से बच्चे का मुख चूमने ही को मिल जाता। इस आशा में कितने दिन अटका पड़ा रहा?"

भगवती से अधिक सुना न गया। उसकी आँखों में आँसू आ गए थे। अब वे ढरककर नीचे बह गए। उसने भरे कंठ से कहा—"भैया! क्या यह संभव है कि मैं अपना घर, स्त्री, पुत्र सब तुम्हें दे दूँ? तुम्हारे ही योग्य वह सब है। भगवान् ने आधी वस्तु यहाँ और आधी वहाँ क्यों दे रक्खी है? यह तो बड़ा अन्याय है।"

प्रवीण चौंक पड़े। उन्होंने घबराकर भगवती की ओर देखा। उनकी आँखों में भी पानी आ गया। वह बोले—"भगवती, कभी अनहोनी बात ज़बान पर मत लाना। तुम्हारा

घर और सुख तुम्हारे लिये बना रहे। वह क्या मेरे हृदय को शीतल नहीं करता है ? तुम्हारा सुख तुम्हारे पास रहकर जितना मुझे सुखी करता है, उतना क्या मेरे पास रहकर करेगा ?" इतना कहते-कहते वह और भी घबरा गए। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वह झूठ बोल रहे हैं। वह अपने ही आपको भय और संदेह की दृष्टि से देखने लगे।

भगवती का उधर ध्यान नहीं था। उसने दोनो हाथों से प्रवीण के हाथ पकड़ लिए, और रोते-रोते कहा—"भैया ! तुम्हें मालूम नहीं है। रोते-रोते भाभी की आँखें सूज गई हैं। क्या तुम कभी यह भी पूछते हो कि उन्होंने खाया भी है, या नहीं ?"

प्रवीण बड़ी कठिनता से अपने उमड़ते हुए हृदय को रोकने लगे। करुणा, क्रोध और विवशता ने उन्हें इस योग्य भी न रक्खा कि वह कुछ भी बोल सकते। वह चुपचाप नीची निगाह किए बैठे रहे। भगवती चुप था।

एकाएक प्रवीण उठ खड़े हुए। उन्होंने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"भगवती ! चल, घर चलें। बच्चा राज़ी तो है ?"

भगवती कुछ बोला नहीं। वह कठपुतली की तरह मित्र के पीछे-पीछे अपने घर की तरफ़ चला।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

बहू के चेहरे पर अभी लाली नहीं आई थी। पर वह पीलापन भी एक शोभा की वस्तु थी। वह अकेली बैठी पालने में सोते हुए बच्चे के निर्दोष चेहरे को एकटक देख रही थी। सोते बच्चे के होंठ फड़क उठते थे। कभी उन पर मुस्कान भी आ जाती थी। उसके साथ-ही-साथ बहू के होंठ भी फड़क रहे और मुस्किरा रहे थे, मानो दोनो के हृदयों में कोई बिजली का तार लग रहा था, और एक ही बैटरी से दोनो संचालित हो रहे थे।

बच्चे को देखते-देखते उसका ध्यान एकाएक उस रात की घटना पर गया। उसने सोचा, सबने उन्हें अकेले मेरे पास छोड़ दिया। किसी को लाज न लगी? उन्होंने बच्चे को और मुझे एक-सा ही सुंदर बताया। क्या मैं भी ऐसी ही सुंदर हूँ। इतना विचारकर वह फिर बच्चे का मुख-कमल देखने लगी। अब की बार उसकी विचार-धारा फिरी। वह सोचने लगी, वह स्वयं भी क्या कुछ कम सुंदर हैं। बच्चा मानो हूबहू उन्हीं की तस्वीर हो। यह सोचते-सोचते वह घबरा उठी। उसने मन में कहा—"राम-राम! मैं क्या निकम्मी बात सोचने लगी।" पर इतना होने पर भी उसकी विचार-धारा टूटी नहीं, वह प्रवीण के मुख की बात ही सोचती रही। उसके उस प्रश्न

को उसने बार-बार दुहराया। अनेक बार गुनगुनाया। उन्होंने कहा था—"कभी-कभी क्या इस खिलौने से मुझे भी खेलने दोगी ?" अंत में उसने ज़रा ज़ोर से कहा—"तुम्हीं इस खिलौने को ले जाना। तुम्हारा ही यह खिलौना है।" इतना कहकर उसने घबराकर चारो तरफ़ देखा। हाय ! क्या मुँह से निकल गया। इसके बाद उसने बच्चे का मुख चूमकर कहा—"मेरे बिटुआ को सब चाहते हैं।" उसके होठ फूल रहे थे।

एकाएक उसके मन में आया कि उसके पुत्र पर पति की तो कुछ छाया ही नहीं है। अब वह भगवती और प्रवीण के विषय में सोचने लगी। धीरे-धीरे उसका वाक्य-ज्ञान लुप्त हो गया। उसने पति और प्रवीण दोनो की मूर्ति बनाकर सामने रक्खी। वह एक नज़र से उसे और एक नज़र से इसे देखने लगी। प्रथम उसकी दृष्टि प्रवीण की मूर्ति पर पड़ी। वह छिपी नज़र, मुस्किराहट, सुंदर मुख और चाह की आँखें देखकर बहू लालच में आ गई। इसके बाद धीरे-धीरे उस मूर्ति पर काला रंग चढ़कर वह ज़रा मोटी हो गई। बहू ने देखा, वह उसके स्वामी का मुख है। पहली तस्वीर को देखकर उसके मन में उमंग आई थी, हवस पैदा हुई थी, वह विलीन हो गई। वह अनमनी-सी हो स्वामी के कुरूप मुख को देखने लगी। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि गंभीर हुई। उस मूर्ति की आँखों में उसकी आँखें गड़ गईं। उन आँखों से एक विद्युत्-धारा

बहकर इन आँखों में घुमने लगी। वहाँ से दृष्टि दौड़कर होठों पर आई। वे सुंदर न थे, पर प्रेम से फूल रहे थे। उन्हें देखते ही अनेक उन्मादक, मोह-सुखकर स्मृतियों का उदय हुआ। उस स्मृति के गहरे रंग में स्वामी का कुरूप छिप गया। वह उसी स्मृति के नशे की झोंक में मदमाती-सी झूमने लगी। फिर उसके मन में उमंग आई, मुख पर मुस्किराहट आई, और आँखों में रस आया। तब उसे प्रतीत हुआ, स्वामी से बढ़कर वह किसी को प्यार नहीं करती है। इसके बाद वह उठकर कमरे में चली गई। दीवार पर स्वामी की तस्वीर लगी थी। पर उस तस्वीर में प्रवीण की भी तस्वीर थी। उस समय उसकी इच्छा नहीं थी कि वह स्वामी को छोड़ किसी और की ओर देखे। पर दृष्टि फिर हटने लगी। ऐसा होता ही है। जो विषय ध्यान से देखने के हैं, वे जब इंद्रियों से देखे जाते हैं, तब मन विचल ही जाता है। इसीलिये योगियों को एकांत-वास की बात कही गई है। ज्यों ही बहू की चेतना-शक्ति बाहरी आँखों में आई, वह अंतर्जगत छिन्न-भिन्न हो गया। वह एक-दो बार इधर-उधर करके प्रवीण के चेहरे को मन लगाकर देखने लगी, किंतु कुछ ही क्षण में वह चौंक उठी। उसे अपने विचार का खयाल आया। वह अपने विचार के हठ पर जम गई। उसने बल-पूर्वक प्रवीण को देखना बंद कर दिया। उसने ज़िद में आकर, तस्वीर को उतारकर छाती में ज़ोर से छिपा लिया। हृदय के गहरे पर्दे से किसी ने

कहा—"अरी बावली ! अरी अबोध ! यह क्या करती है ? तेरे पति के साथ में इसमें एक और आदमी भी है।" पर दूसरी ओर से किसी ने कहा—"रहने दो। वह भी क्या बुरा है ? जाने दो। वह क्या ग़ैर है ?" उसकी सारी नसें झन-झना उठीं। वह उस चित्र को वहीं छाती में छिपाए पलंग पर पड़ रही, और थोड़ी ही देर में सो गई। चित्र छाती में चिपक रहा था।

भगवती ने घर में लौटकर, कमरे में झाँककर देखा, सन्नाटा था। फिर धीरे-धीरे भीतर आकर देखा, बहू सो रही है। इसके बाद उसने चुपके-चुपके घूँघट उठाया। चाँद-सा मुखड़ा दमक रहा था। मालूम होता है, वह कोई सुख-स्वप्न देख रही है। भगवती ने लालच में आकर एक बार उसका मुख चूमने का इरादा किया, पर विचार पलट गया। उसने मुँह चूमने के स्थान में बहू की चोटी दरी से बाँध दी। इसके बाद वह थोड़ी देर खड़ा रहा। देर तक खड़ा न रहा गया। लालच ने उसे धर दबाया। वह धीरे से पलंग पर जाकर स्त्री की बग़ल में सो गया। तुरंत ही उस अगम्या सुख की कोमल कल्पना में एक काँटा चुभ गया। उसने देखा, उस गर्म, कोमल आलिंगन में कुछ कड़ी चीज़ है। वह था तस्वीर का चौखटा। उसे अपना चित्र तो देख न पड़ा। उसने हैरान होकर कहा—"हैं ! प्रवीण का चित्र ! इसे किसलिये छाती से लगाए सोती है ?" क्षण-भर में सब फिर किरकिरा हो

गया। वह पलंग से उतरकर इधर-उधर टहलने लगा। तरह-तरह की विचार-धारा मन में तूफ़ान मचाने लगी। रात-भर उसे नींद न आई। वह घोर नींद में सुख से सो रही थी।

बीसवाँ परिच्छेद

यह बंधुत्व का प्राबल्य और भोलेपन का तक़ाज़ा था कि भगवती प्रवीण की कुचेष्टाएँ देखकर भी ऐसे प्रेम और आदर का व्यवहार उनसे करता था। भगवती बड़े ही सरल हृदय का पुरुष था। उस रात वह यह तो समझ ही न सका कि वह तस्वीर मेरी थी। उसे यही धुन बँध गई कि प्रवीण की तस्वीर को छाती में लगाए वह क्यों पड़ी थी? यह क्षोभ असंतोष से शुरू होकर संदेह तक पहुँच गया। अब जो विचारों का ताँता बँधा, तो भगवती का सिर घूमने लगा। वह क्यों रोज़-रोज़ यहाँ आता है? अपने घर वह उदास रहता है, यहाँ सदा हँसता आता है। इसका क्या कारण? वह कई बार बहू को घूर-घूरकर देखा करता है, इसका क्या कारण? बहू ही क्यों उससे ठठोली किया करती है? उस रात हठ करके वह क्यों बहू के पास रहा? मैं भी कैसा गधा हूँ? मैंने ही ऐसा क्यों करने दिया? मित्र हो या संबंधी, घर में किसी की भी ऐसी घनिष्ठता कुछ अच्छी बात है? फिर ऐसे आदमी की, जो वेश्याओं के घर भी जाता है? वेश्याओं की जूती खाकर भी फिर वहीं जाने की लालसा रखता है। ऐसे पुरुष का क्या एतबार? ऐसा आदमी क्या जनाने

घर में इस तरह रखने योग्य है ? ऐसा आदमी क्या नहीं कर सकता ?

ऐसा आदमी क्या नहीं कर सकता, यह वाक्य उसके मन में दो बार उत्पन्न हुआ। उसके साथ ही तत्काल भगवती उस चित्रवाली बात पर विचार करने लगा। तब क्या उसने बहू को अपने माया-जाल में फँसा लिया है ? क्या वह मेरी स्त्री को छीनना चाहता है ? इस बात को सोचते-सोचते भगवती बहुत ही परेशान हो गया। क्षण ही भर में उसके मन से बचपन से अब तक का सारा स्नेह फक्क से उड़ गया। उसके मन में केवल तस्वीर की बात रम रही थी। उसे बहू पर घोर संदेह हो रहा था। उस दिन भगवती ने स्नान भी न किया। वह चुपचाप बैठा इसी दुःखदायी विषय का चिंतन करने लगा।

प्रवीण भी आ गए। उन्होंने भगवती को इस तरह बैठा देखकर कहा—"मैंने समझा था, तुम अभी सोते ही होगे। ईश्वर का धन्यवाद है, बैठे हो।"

भगवती ने प्रवीण का आज कुछ आगत-स्वागत न किया, वह वैसा ही बैठा रहा। प्रवीण भीतर आंगन में वृद्धा के पास जाकर बोले—"आज नवाब साहब क्यों फूले बैठे हैं ?"

बुढ़िया ने एक बार बेटे की तरफ देखकर कहा—

"सोकर उठा है। सुस्ती छा रही है।"

प्रवीण ने पुकारकर कहा—"श्रीमान, उठकर स्नान कर

लें। दिन तो बहुत देर का निकल आया है। मैं तो कुछ जल-पान के इरादे से आया था।"

बुढ़िया हँस पड़ी। भगवती ने सोचा, कैसी बात है? यहाँ आकर यह बिना हँसी बात ही नहीं करता। अपने सारे दुख भूल जाता है। इसका क्या कारण समझना चाहिए?

बुढ़िया ने भगवती से कहा—"जा रे! नहा-धोकर निपट ले।" और बहू को थोड़ा हलुआ बनाने का आदेश दिया। प्रवीण ने रोककर कहा—"यह लो। हँसी की बात को सच समझ गई! हलुआ-वलुआ की कुछ जरूरत नहीं है।" बहू अपनी पायजेबों की झनकार से मधुरता बखेरती हुई, केसर की रँगी साड़ी पहने, बच्चे को गोद में लेकर सीधी प्रवीण के पास आई, और बच्चा उनकी गोद में डाल दिया। भगवती ने यह देखा। उसने यह भी देखा कि जब बहू झुककर बच्चा उनकी गोद में डाल रही थी, तब प्रवीण मुख ऊँचा कर और मुस्किराकर, उसके मुख को ताककर कुछ बोले थे। बहू उस बात को सुनकर हँसती हुई रसोई में घुस गई। यह दूर ही से देखकर भगवती जल गया, पर कुछ बोला नहीं। उसे यह सब बिलकुल अच्छा न लगता था। प्रवीण बच्चे को खिलाने लगे। बुढ़िया का दुबारा आदेश पाकर भगवती स्नान करने को उठ गया।

जल-पान की उन्हें इच्छा न थी। इतने ही समय में प्रवीण के प्रति उसका विराग इतना बढ़ गया था कि वह उनसे स्पष्ट

कह देना चाहता था कि तुम इस तरह घर में मत घुस आया करो। पर इस तरह उससे कहा न गया। वह चुपचाप बेमन से हलुआ खाने लगा। वहू दुबारा परसने लाई। प्रवीण और लेने से इनकार करने लगे। वहू ने और लेने का आग्रह किया। बुढ़िया ने भी आग्रह किया। भगवती यह न देख सका, उसने माथा सिकोड़कर कहा—"इतना हठ क्यों करती हो? जब वह नहीं लेते, तो इतना तंग करने से क्या फ़ायदा? थोड़े अदब-क़ायदे से रहना सीखो। मर्दों से मर्दों की तरह रहो।"

वहू पर वज्र पड़ा। वह चुपचाप खिसक गई। प्रवीण के भी कान खड़े हुए। उन्होंने देखा, आज भगवती का कुछ रंग ही निराला है। वहू ने रसोई के झरोखे से झाँककर देखा, पति देवता में आज मित्रता का रस नहीं है। प्रवीण अपना जल-पान समाप्त कर वृद्धा से गप-शप करने लगे। बीच-बीच में वह वहू को ताक-झाँक लेते थे। आज मानो भगवती के हज़ार आँखें हो गई थीं। जो भाव पहले मूसल के समान स्थूल होने पर भी वह कभी नहीं देखता था, आज उसी बात की तीली-तीली को वह ताक रहा था। आखिर भगवती से न रहा गया, उसने कहा—"भैया! तुम्हारा जी जितना स्त्रियों से बातचीत में लगता है, उतना यदि काम-काज में लगे, तो तुम्हारे रोज़गार-धंधे की जो दुर्दशा हो रही है, वह न हो।"

प्रवीण को यह बात बहुत ही बुरी लगी। उन्होंने कहा—"आज तो भगवती को मेरे धंधे की बड़ी फ़िकर लग रही है।"

भगवती ने और भी दृढ़ स्वर में कहा—"पर यह फ़िकर तुम्हें लगनी चाहिए।" प्रवीण मन-ही-मन अपमान पी गए। वह चुपचाप बच्चे को खिलाने लगे। भगवती ने अनेक चेष्टाओं से यह प्रकट कर दिया कि उसे उनका घर में इस तरह घुस बैठना क़तई पसंद नहीं है, पर प्रवीण मानो गूँगे-बहरे हो रहे थे। अंत में भगवती कपड़े पहन बाहर जाने को तैयार हुआ। प्रवीण ने कहा—"कहाँ चले?"

भगवती ने रूखे स्वर में कहा—"तो क्या मैं दिन-भर घर में घुसा पड़ा रहूँ? मर्द को बीस काम होते हैं।"

प्रवीण ने कहा—"आज तो तुम बड़े कामकाजी हो गए हो। कितनी देर में लौटोगे?"

भगवती ने क्रोध-युक्त स्वर से कहा—"तो तब तक क्या तुम यहीं बैठे रहोगे?"

प्रवीण ने धीरे से बच्चे को वृद्धा की गोद में दे दिया। अपमान का, लोहू का, जो घूँट वह अब तक पी रहे थे, अब वह असह्य हुआ। उन्होंने कहा—"नहीं, मैं भी अब जाता हूँ।" इतना कह और बिना वृद्धा को प्रणाम किए ही वह भगवती से भी आगे तीर की तरह निकल गए।

कुछ देर भगवती द्वार पर खड़ा उन्हें देखता रहा। एक बार उसने अपनी स्त्री की तरफ़ भी तेज़ नज़र से देखा, और तब वह भी चल दिया।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

भगवती बहुत रात गए घर वापस आया। बुढ़िया को उसकी नाराज़ी का उतना भान नहीं था, पर बहू इस बात को भाँप गई थी। वह मन-ही-मन कुछ डर भी रही थी। सोने का समय होने पर जब वृद्धा ने कहा—"जाकर सो रह।" तब भी वह उठी नहीं। उसने कहा—"अभी तो वह आए भी नहीं हैं।" बुढ़िया ने कहा—"इतनी देर तक कहाँ रहा ?"

वह कुछ न बोली। उसका कलेजा धड़कने लगा। वह सोच रही थी, भगवान् ! आज क्या होगा ?

जब भगवती वापस आया, तो बहू ऊपर चली गई। भगवती ने एक बार माता से सब साफ़-साफ़ कह देना चाहा। वह मा के पास आ बैठा। बुढ़िया ने बड़े प्यार की गाली देकर कहा—"ऐ तेरी मैया मर जाय ! तू गया कहाँ था ?"

भगवती हँसा नहीं, न कुछ जवाब दिया। वह चुपचाप बैठा यही सोच रहा था कि किस तरह अपनी बात माता से कहूँ, पर कोई रास्ता नहीं देख पड़ा।

बुढ़िया का उधर कुछ भी लक्ष्य न था। उसने कहा—'भगवती ! तू मुझे गंगा नहाने ही भेज दे। गोविंदा की मा और रामचरण की मौसी, सब जा रही हैं।" भगवती ने

उदासीनता से कहा—"इच्छा हो, तो जाओ।" बुढ़िया ने इसे भी लक्ष्य न किया। उसने कुछ कौतुक से कहा—"पर तुझे पेट भरके रोटी भी मिल जायगी? तुझे खुशामद कराने की आदत पड़ गई है, और वह ऐसी लजीली है कि किसी से पूछती ही नहीं।" एकाएक भगवती सोचने लगा, माता को जाने दो, तब मैं प्रवीण और बहू को समझ लूँगा। उसने कुछ तत्परता से कहा—"मा! मेरी क्या फ़िकर है? तुम्हारी इच्छा है, तो जहा आओ। आठ दिन से ज्यादा न लगाना।"

बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हो गई। भगवती अपनी बात फिर भी न कह सका। बुढ़िया ने कहा—"अच्छा, अब जाकर सो रहो। बहू वहाँ अकेली बैठी है।"

भगवती उठकर ऊपर चला। बहू उठकर उसे देखने लगी। भगवती उससे कुछ न बोलकर, कपड़ा उतार पलंग पर पड़ रहा। धीरे-धीरे बहू ने आगे बढ़कर धीमे स्वर से पूछा—

"क्यों? तबियत तो अच्छी है?"

भगवती न बोला। बहू ने फिर सवाल किया—"क्या पानी लाऊँ?"

भगवती ने रूखे स्वर से कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

बहू चुप रही। भगवती उधर से मुँह फेरकर सो रहा, उसने डरते-डरते पलंग पर बैठकर उसका पैर छुआ।

किया। भगवती ने झिड़ककर कहा—“जाओ, जाकर सो रहो।”

वहू सहम गई। उसने थोड़ा ठहरकर कहा—“मुझसे क्यों नाराज़ हो ? मैंने क्या किया है ?”

भगवती ने गर्दन तकिए पर से उठाकर, वहू को क्रोध की दृष्टि से देखकर कहा—

“तुम अपना क़सूर पूछती हो ?”

वहू एकटक स्वामी की ओर देखती रही। देखते-ही-देखते उसकी आँखों में आँसू भर आए।

भगवती कुछ देर तक घूरकर रूखे स्वर से बोला—

“तुम अपने बाप के घर चली जाओ।”

वहू पर वज्र पड़ा। उसने अधरोनी होकर कहा—

“क्यों ?”

भगवती ने गर्म होकर कहा—“मेरी इच्छा।” इसके बाद वह फिर तकिए पर झुककर और करवट बदलकर सो रहा। वहू चुपचाप रोने लगी।

थोड़ी देर में भगवती ने करारे स्वर में कहा—

“तुम्हारी हया-शर्म सब उड़ गई है। पराए मर्दों के सामने फिरते रहना, हँसी करना और कहने की भी परवा न करना ?”

वहू धरती में गड़ गई। उसके शरीर से पसीना बह उठा, ‘भगव सिर में चक्कर आने लगा। उसने सूखे कंठ से कहा—

और राम हँसी करनी हूँ ?”

भगवती ने गर्दन उठाकर कहा "प्रवीण से। प्रवीण तुम्हारा लगता क्या है ?"

बहू ने काँपते हुए कहा—"वह घर में चले आते हैं। मैं क्या करूँ ?"

भगवती दाँत मिसमिसाकर बोला—"और वह तुम्हें घूर-घूरकर क्यों देखा करता है ?"

वह घबरा गई। उसने रोकर कहा—"मैं क्या जानूँ ?"

भगवती फिर बोला—"और तुम उसकी इतनी लल्लो-पत्तो क्यों करती हो ?"

बहू ने काँपते स्वर में कहा—"सभी उनकी खातिर करते हैं। सबके डर से मैं भी करती हूँ। अम्माजी की नाराज़ी का कितना डर है!"

भगवती उठकर बैठ गया। बैठकर बोला—"और अम्माजी की नाराज़ी के ही डर से उस दिन उसका फ़ोटो छाती से लगाकर सोई होगी ? क्यों ?" इतना कहकर उसने दाँत मिसमिसाकर उस पर एक घूँसा ताना। वह बेत की तरह काँपने लगी। उसकी जीभ तालू से सट गई। भगवती ने फटकारकर कहा—"बोलती क्यों नहीं ?"

बहू ने सिसकते-सिसकते कहा—"वह तो तुम्हारी तस्वीर थी।"

भगवती अग्निमय नेत्रों से थोड़ी देर उसकी तरफ़ देखने लगा। पीछे वह फिर लेट गया। बहू बैठी रोती रही।

थोड़ी देर बाद उसने उधर करवट लेकर कहा—"जो अब मैंने तुम्हें कभी उसके सामने आते और निर्लज्जता से फिरते देख लिया, तो कुट्टी काटकर फेक दूँगा। इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

बहू नीचा सिर किए रोती रही। भगवती उधर ध्यान न देकर मुँह फेर सो गया। बहू उस रात जब तक जागती रही, रोती रही; और रोते-रोते धरती पर सो गई। लैंप न-जाने कब तेल चुक जाने पर बुझा।

प्रातःकाल वह बड़े सवेरे उठकर घर के धंधे से लगी। स्वामी की नजर से बचने का ही उसका उद्देश्य था। बुढ़िया ने जब यह कहा कि वह गंगा-यात्रा को जा रही है, तब बहू ने भी साथ चलने को बहुत कुछ कहा-सुना, पर बुढ़िया ने अपनी जवानी की दो-एक घटनाएँ सुनाकर उसे समझा दिया कि उसका प्रस्ताव असंगत है।

दोपहर तक बहू को बुढ़िया के धंधे से फ़ुर्सत नहीं मिली। जब बुढ़िया चली गई, तब वह घर में अकेली रह गई। सवेरे ही से भगवती से उसका-साक्षात् नहीं हुआ था। वह प्रवीण के आने से डर रही थी कि यदि अब वह आ गए, तो बड़ा ग़जब होगा। वह बात करेंगे, तो बिना बोले कैसे बनेगा!

बहुत सोच-विचारकर उसने एक चिट्ठी प्रवीण को लिखी। उसका मन बड़ी दुविधा में था, पर लाचार उसने उन्हें लिखना ही ठीक समझा। अब वह चिट्ठी उन तक पहुँचे किस तरह!

यह सोचने लगी। उस दिन दिन बीत गया, कोई न आया। भगवती दोपहर को भोजन करके चला गया था। रात को भी जब वह खाकर चलने लगा, तब बहू ने पाँव पकड़कर कहा—"मुझे अकेले डर लगता है। अब कहीं मत जाओ।" पर भगवती ने सुना नहीं। कुछ बोला भी नहीं। बाहर चला गया।

बाईसवाँ परिच्छेद

अगले दिन भोर होते ही प्रवीण बहुत ही दुखी और उदास हो दूकान पर आ बैठे। उनके मस्तक में तूफ़ान उठ रहा था। हज़ारों तरह की विचार-कल्पनाएँ एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध कर रही थीं। वह एकाग्र होकर अपने पतन को सोचने लगे। वह सोचने लगे, यहाँ तक मैं आ पहुँचा ? उस रात की घटना याद कर उनके रोमांच हो आया। हाय ! कैसी वह घृणित मूर्ति थी ? कैसी यह प्यास है ? और कैसे यह बुझेगी ? भगवान् ने सुखदा मुझे क्यों दी ? क्यों यह निर्धनता दी ? क्यों यह तबियत दी ? क्या यह प्यास भीतर-ही-भीतर मारी नहीं जा सकती ? पराए घर में चोरों की तरह से लोलुप दृष्टि रखना और फटकार खाकर, दुम दबाकर भागना, यही क्या मेरी शोभा है ? मेरी यह भयंकर प्यास न-जाने किस-किसको ले बैठेगी ? सुखदा का तो सर्वनाश हो ही रहा है। खैर, वह मेरी वस्तु है, दुखिया है, वह नाश हो; किंतु जो सुखी हैं, जो मेरे नहीं हैं, हाय ! मैं अनधिकार उन्हें भी नाश की तरफ़ ले जा रहा हूँ !

इसके बाद वह सोचने लगे, इस प्रकार पराई बहू-बेटियों पर नीच दृष्टि डालने की अपेक्षा तो यही कुत्सित मार्ग ही अच्छा है, जिसकी पहली झलक कल देख आया हूँ। क्या

संसार में एक ही वस्तु है ? उसके बिना दुनिया का काम क्या चलता ही नहीं है ? जो वस्तु घर में नहीं है, वह बाज़ार में है। बाज़ार की वस्तु क्या लोग खाते नहीं हैं ? रही लज्जा ! सो इसमें लज्जा और मानापमान की क्या बात है ? पैसा फेंककर खड़े-खड़े खा लो। जब वे लोग स्त्री होने पर भी निर्लज्ज होकर बाज़ार में बैठ गई हैं, तो मैं मर्द होकर लज्जा करूँगा ? लज्जा व्यर्थ है। इतना सोचते-सोचते वह उस रात की सारी घटनाओं पर विचार कर गए। विचार बँधते ही वह काँप गए। ऐसा घोर नरक ! ऐसा गर्हित अपमान ! ऐसा नीच जीवन संसार में कहीं नहीं है। समाज ने मेरे ही-जैसे अभागों की प्यास बुझाने के लिये यह गंदा तालाब प्रत्येक नगर में बना रक्खा है, जिसके एक-एक चुल्लू में घृणित कीड़े हैं। पर लोग भी कैसे हैं, उसी को पी जाते हैं। अभ्यास ही से ऐसा होता है। घृणा और विराग उसकी चपेट में खो जाते हैं। हे भगवान् ! क्या मैं भी उसी को गले उतार जाऊँगा ? हाय, यह कैसे होगा ? प्यास बुरी वस्तु है, पर समाज की यह दया उससे भी बुरी है कि वह मनुष्य को प्यासा मरते नहीं देख सकती। किंतु घृणित और कुत्सित वस्तु पिलाकर उसे जीवित रख लेती है। क्या जीवित रहना इतना आवश्यक है ? उसके लिये इतना निर्लज्ज, इतना अपदार्थ, इतना अधम बनना पड़ता है। नहीं, यह सब मुझसे न होगा। पर पराए घर में आग लगाने का स्मरण करके तो मेरे रोम-रोम में विष व्याप जाता है। इधर ध्यान पलटते ही

अपनी बहू का भविष्य देखने लगे। इसी विचार-धारा में मानो मूर्तिमान् होकर भगवती का अपमान आँखों में फिर गया। उन्होंने दाँत पीसकर कहा—"भगवती ने मेरा इतना अपमान किया ? ऐं !" अब वह प्रतिहिंसा को आँखों में भरकर तकिए के सहारे लेट गए।

पतन का मार्ग इतना सरल है कि उस पर एक बार फिसलने से फिर रुकना कठिन हो जाता है। दुर्भाग्य से प्रवीण भी उसी मार्ग पर आ गए थे। वह प्रत्येक पाप—प्रत्येक कुचेष्टा—को अच्छी तरह समझते थे, पर मन उनके वश में न था। फिर भी उनकी इंद्रियाँ पूर्ण निर्दोष थीं, पर यह भी उनके मन की कमज़ोरी थी। वास्तव में उनके मन में इतना साहस ही नहीं था कि वह पाप में अग्रसर हों। यह भी एक कारण था कि वह 'गुनाह बेलज़्ज़त' की कीचड़ में पड़े दुख पा रहे थे।

जब वह विचार-शक्ति के अधीन होते थे, तो पूरा-पूरा अनुताप करते थे, पर अनुताप उनका देर तक ठहरता न था। हृदय के भावों की प्रबलता होते ही वह कहाँ-के-कहाँ गिर जाते थे। फिर उन्हें वह कुछ न सूझता था।

अपमान और घृणा, ये दो बातें बहुत कुछ अभ्यास से सही जाती हैं, और अनुताप भी बार-बार प्रयोग में आने से प्रभाव-हीन हो जाता है। इतनी लांछना भगवती से पाने पर, जो उनके मन में एक क्षण के लिये अनुताप हुआ था, वह

शीघ्र ही विलीन हो गया, और न-मालूम किस आसुरी प्रवृत्ति ने उनके मन में निर्लज्ज साहस ला दिया।

वह सोचने लगे, मित्रता की ऐसी-तैसी! भगवती ने क्या उसे बनाया है? मैं उसे देखने तक का अनुताप करूँ! मैं अस्पृश्य, घृणित जीव हूँ, जो मेरे देखने से ही वह मैली हो जायगी? छिः! मूर्ख भगवती को मेरे अपमान का इतना साहस? मैं क्या उसका पालतू कुत्ता हूँ, जो दुम दबाता हुआ उसके पीछे-पीछे फिरा करूँगा?

यदि बहू मुझे चाहती है, तो मैं उस कुपात्र से उसे अवश्य छीन लूँगा। इस समय वह विवेक को लात मार चुके थे। वह अब इस बात पर विचारने लगे कि बहू मुझे चाहती भी है या नहीं? इस बात के मन में उठते ही प्रथम तो उन्हें इस बात का खयाल आया कि भगवती की अपेक्षा मैं रूप, गुण और रसिकता में बढ़कर हूँ। इसके पीछे वह बहू की चेष्टाओं को ध्यान से सोचने लगे, और उन्हें शीघ्र ही इस बात पर विश्वास भी हो गया कि बहू उन्हें चाहती अवश्य है।

अब उनके सामने एक ही काम रह गया था। वह यह कि बहू से पूछ लें कि वह उन्हें चाहती है या नहीं? यदि उसकी सहमति हो, तो मित्रता भाड़ में जाय! धर्म, नीति, जाति-गौरव धूल में मिले! वह बहू को लेकर रहेंगे। कुछ न सोचेंगे, कुछ न देखेंगे, संसार में अनेक वस्तुएं अवश्य हैं, पर जो जिसके

सामने आ जाय, वही उसकी है। उपस्थित को छोड़कर और कहाँ ढूँढ़ने जायँ ! देखता हूँ, अभागे भगवती का घमंड कितना है ? इसके बाद बहू का रूप भी कहीं लीन हो गया, और केवल प्रतिहिंसा--प्रतिहिंसा का भयानक ज्वार- उनके हृदय में उमड़ने लगा।

अब वह बहू से मिलने का सुयोग ढूँढ़ने लगे। शीघ्र ही वह मिल भी गया। अगले दिन मित्र-मंडली से भोजन का निमंत्रण आया। प्रवीण ने आदमी से पूछा—"क्या भगवती का निमंत्रण नहीं है ?"

आदमी ने कहा—"मैं उन्हें पत्र दे आया हूँ। आप उन्हें साथ लेकर आवें।"

प्रवीण सोचने लगे, इस पाजी को वहाँ अटकाकर कल ही बहू से साक्षात्कार करूँगा। बुढ़िया को झाँसा देने की युक्ति वह अब सोचने लगे।

अगले दिन संध्या होने से प्रथम ही वह भगवती के घर की तरफ चले। "अर्थी दोषं न पश्यति", घमंडी प्रवीण अपनी सारी अकड़ भूल गए। कल जिसने उन्हें ऐसा अपमानित किया, जिसके लिये उनके मन में प्रतिहिंसा उदय हुई है, उसी के घर वह सचमुच दुम हिलाते पहुँच गए।

घर के भीतर जाकर देखा, सन्नाटा है। पुकारा—"भगवती !"

भगवती ऊपर बैठा था। बहू भी पास ही खड़ी थी। उसने

एक बार तीव्र दृष्टि से बहू की तरफ़ देखकर कहा—"आ गया कुत्ता ! न रहा गया ?"

बहू ने क्रोध से कहा—"उन्हें साफ़ क्यों नहीं मना कर देते हो यहाँ आने के लिये ?"

भगवती बाहर आया।

प्रवीण ने कहा—"भगवती ! घर में आने के लिये क्षमा करना। मैं तुम्हें निमंत्रण में ले चलने के लिये आया हूँ।"

भगवती ने रूखे स्वर से कहा—

"पर मैं तो न जा सकूँगा।"

"क्यों ?"

"घर में कोई नहीं है। यह अकेली है।"

"मा कहाँ गई ?"

"कल गंगा-स्नान करने गई हैं।"

प्रवीण चुप हुए। एकाएक आसुरी प्रसन्नता उनके मुख पर आ गई। वह उसे छिपाकर बोले—

"किंतु निमंत्रण स्वीकार करके न जाना भी ठीक नहीं है।"

भगवती ने कहा—"ख़ैर, तो मैं इसके लिये उनसे क्षमा माँग लूँगा।"

प्रवीण उदास हुए। भगवती की ऐसी उपेक्षा वह सह न सके। जिससे बचपन से घनिष्ठ संबंध रहा, जो एक प्राण, दो देह थे, वही आज उनकी ऐसी अवहेलना कर रहा है !

उन्होंने ठंडी साँस भरकर कहा—"तब मैं भी वापस जाता हूँ। मैं भी जाकर क्या करूँगा !" इतना कहकर वह नीची नज़र किए वहाँ से चल दिए।

सरल-हृदय भगवती यह न देख सका। उसने खिड़की से झाँककर देखा, प्रवीण नीची नज़र किए घर को लौट रहे हैं। उसने बहू से पूछा—"क्या चला जाऊँ ?"

बहू ने कहा—"चले जाओ। मुझे क्या डर है।"

भगवती ने पुकारकर कहा—"ठहरो, मैं चलता हूँ।"

प्रवीण ने चौंककर, पीछे फिरकर देखा और कहा—"क्या मुझे पुकारा ?"

भगवती ने नीचे उतरते-उतरते कहा—"हाँ।"

प्रवीण ने देखा, सचमुच भगवती उनका सम्मान नहीं करता। उसने आज उन्हें भैया कहकर नहीं पुकारा। इसी बात पर प्रवीण का शोक तो उड़ गया, और क्रोध छा गया। उन्होंने मन में कहा—मुझे किसी के सम्मान की जरूरत ही क्या है ? उन्होंने भगवती से कहा—"इच्छा नहीं थी, तो क्यों चले आए ?"

भगवती ने ठंडे स्वर में कहा—"चला आया। जल्दी वापस लौट आऊँगा।"

मित्र-मंडली में प्रवीण पूर्ण रसिक प्रसिद्ध थे। मित्र लोग उन्हें घेरकर तंग करने लगे। कोई कहानी, कोई गल्प, कोई कविता सुनने को धत्रा दे बैठे, पर प्रवीण आज दुर्भावना के

आवेश में थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि भगवती को वहाँ अटकाकर बहू से मुलाक़ात करूँगा।

भोजन का समय निकट देखकर उन्होंने कुछ घबराहट के ढंग से कहा—"आप लोग क्षमा करें। मुझे एक ज़रूरी काम याद आ गया है। जाने को मजबूर हूँ। मेरा भाग भी भगवती को खिला देना।"

थोड़ी ज़िद्दमज़िद्दा के बाद प्रवीण चल दिए। भगवती को यह अच्छा नहीं लगा। वह अनमना-सा देखता रहा।

तेईसवाँ परिच्छेद

भगवती की दृष्टि प्रवीण ही के ऊपर थी। जब उसने देखा कि इतना अनुरोध करने पर भी वह नहीं रुका, और जरूरी काम का बहाना कर चला ही गया, तो इसमें उसका कुछ कुत्सित अभिप्राय अवश्य है। इस बात को सोचकर वह कुछ उद्विग्न हो उठा। उसका मिजाज जरा गर्म हो गया। उसने मन में कहा, हाय ! देखो, अभागा कहाँ-का-कहाँ जा रहा है। माता और स्त्री के दुख की उसे रत्ती-भर परवा नहीं है। यह अच्छा पाखंड है। कीड़े-मकोड़े, चींटी और मँगतों के लिये उसके हृदय में इतनी दया है कि जरा-से दुःख से रो उठता है, किंतु जिसने उसे जन्म दिया है, जो विधवा है, जिसका भविष्य-जीवन आशा-हीन और ठंडा है, उसके लिये उसके मन में कभी कुछ सद्भाव नहीं पैदा होता। बार-बार कहने-समझाने से भी नहीं होता। यही उसका पांडित्य है ! यही उसकी विचारशीलता है ! ऐसे पंडितों से तो मैं मूर्ख ही अच्छा हूँ। मांस भक्षी वन-पशु भी अपने स्त्री-बच्चों पर अत्याचार नहीं करते। तब यह पाखंडी मनुष्य उनसे भी गया-बीता है ? बड़े धिक्कार की बात है। बेचारी उसकी स्त्री, हाय, कैसी अभागिनी है। सूखकर हड्डी का ढाँचा रह गई है। आँखें उसकी गढ़े में

बैठ गई हैं; पर उसकी ओर उसका कुछ भी तो ध्यान नहीं है। भूखी-प्यासी चौका लिए दिन-दिन-भर आँखें लगाए बैठी रहती है। रात के बारह बज जाते हैं, पर उसके बदले में लात, गाली, घृणा और तिरस्कार पाती है! स्त्रियाँ भी कैसी मूर्ख हैं! पुरुषों का इतना अत्याचार सहती हैं। स्त्रियों का ज़रा-सा भी क़सूर भूल से हो जाय, तो पुरुष भयंकर रूप से उनको दंड देने के बहाने अपनी क्रूरता का परिचय देते हैं। तब क्या स्त्रियों को यही उचित है कि यदि उनका पति व्यभिचारी, लंपट, शराबी और चोर हो जाय, तो वे उसी तरह उसका आदर करें? अत्याचार भी सहें, और अपने गहने चुपचाप उतार-उतारकर शराब और व्यभिचार के लिये दे दें? इतना सोचते-सोचते भगवती का सिर गर्म हो गया। वह फिर भुन-भुनाते ही बोला—"यदि मैं ऐसे आदमी की स्त्री होता, तो हाथ-पाँव बाँधकर, घर में बंद कर ताला लगा देता। दिन में एक बार रूखा खाना देता, और ज्यादा चीं-चपड़ करता, तो मारे डंडों के हड्डी-पसली चूर-चूर कर देता। कुत्ते की तरह दुम हिलाते फिरने और गलियारे की जूठी पत्तल चाटते फिरने का सारा मज़ा मिल जाता, और मिज़ाज ठिकाने आ जाता! क्या स्त्रियों का पुरुषों पर कुछ भी अधिकार नहीं है? वे क्या उनकी मोल-ख़रीदी बाँदी हैं या मिट्टी का खिलौना? स्त्रियों का तेज क्या नष्ट हो गया या मर गया है? दब्बू भेड़ की तरह अत्याचार सहकर स्त्रियाँ क्या अपने पतियों का सचमुच

उद्धार कर सकती है ? वह थी तेजस्विनी जोधपुर के जसवंत की रानी, जिसने यह सुनकर कि उसका पति युद्ध में हारकर आ रहा है, क़िले के द्वार बंद करा दिए थे, और द्वारपालों से कह दिया था, वह मेरा पति नहीं है। मेरा पति युद्ध में हारकर नहीं भाग सकता। वह कोई कायर ग़ुलाम है। ख़बरदार उसे क़िले में मत घुसने देना। वाह ! यही तो स्त्रीत्व था। हाय ! बेचारी सुखदा ऐसी क्यों न हुई ? भाभी ! भाभी ! तुम कैसी अभागिनी हो ! तुम्हारा तेज कहाँ नष्ट हो गया ?" इतना सोचते-सोचते भगवती के क्रोध से नथने फूल गए। वह उठकर इधर-उधर टहलने लगा। उसे यह भी ध्यान न रहा कि वह कहाँ है ?

जिस समय भगवती इस तरह बड़बड़ाता हुआ गर्मागरम टहल रहा था, तब उसके मित्रगण उसकी ओर देख-देखकर हँस रहे थे। अब उनमें से एक ने पुकारकर कहा—"अजी ओ फ़िलॉसफ़र साहब ! आइए, अब भोजन पर बैठिए। ये सिद्धांतवाद पीछे देखे जायँगे।" दूसरे ने कहा—"हाँ-हाँ, दो-दो पत्तलें आपको चाटनी हैं। एक प्रवीण की और एक अपनी।" यह एक साधारण-सी बात थी, मगर भगवती इसे सुनकर चौंक पड़ा। हठात् उसे कुछ याद आया। वह सोचने लगा, प्रवीण ने बार-बार यह कहा था कि मेरा भाग भगवती को खिलाना। क्या इससे उसका अभिप्राय मुझे यहाँ अट-काने का तो नहीं था ? तब मुझे यहाँ अटकाकर वह गया

कहाँ है ? हे भगवान् ! मानो हजारों बिच्छुओं ने उसे डस लिया।

उसने इतने जोर से ये शब्द कहे कि वे होठ से बाहर निकल गए। उसने कहा—"भगवान् ! मुझे अटकाकर वह गया कहाँ है ? क्या मेरे घर को ?" मानो किसी ने उसके कान में कह दिया, यही ठीक है। अब भगवती के शरीर में रक्त की गति रुक गई। उसके सारे शरीर में पसीना आ गया, और नस-नस में सनसनी फैल गई। वह अपनी टोपी उठा एकदम बाहर को लपका। मित्रगण रोकते ही रह गए, पर उसने एक न सुनी। वह तीर की तरह सीधा अपने घर आया। घर का द्वार खुला था। वह दबे पैर भीतर घुस गया। दूर से देखा, उसके शयनागार से प्रकाश आ रहा है। पास जा, किवाड़ से झाँककर देखा, वहाँ सर्वनाश उपस्थित था। उसने देखा, उसकी प्यारी स्त्री प्रवीण के पास सटकर खड़ी है। लैंप का भरपूर प्रकाश उस पर पड़ रहा है, और वही उसका लंपट बाल-सखा उसके पैरों में घुटनों के बल बैठा उसके दान किए हुए सुरक्षित और अछूते हाथ चूम रहा है।

चौबीसवाँ परिच्छेद

बच्चा पड़ा सो रहा था। बहू टेबिल पर का लैंप जलाकर और टेबिल पर झुककर उसी लैंप को स्थिर दृष्टि से देख रही थी। जाहिरा तो बात ऐसी ही थी, पर उसकी गहरी उदासी और आत्मा की व्यग्रता यह प्रकट कर रही थी कि वह वास्तव में कुछ सोच रही है। तब वह क्या सोच रही थी? वह यह सोच रही थी कि यह मजबूत काँच की चिमनी इस लौ को क्यों क़ैद किए हुए है? यह स्वयं जलकर तो इस योग्य हुई कि कुछ चमक सके, पर इसलिये क्या इसे इस काँच के घेरे में बंद रखना चाहिये? उसने सोचा, यह पतंग बार-बार उमंग में भरकर इस लौ पर जलने के लिये आता है, पर इस काँच की चिमनी से टकराकर रह जाता है। अच्छा, पतंग जो जलकर मरना चाहता है, उसकी इस चाहना को रोकने का इस चिमनी को क्या अधिकार है? पतंग का यह काम प्रेमांधता से भरा है, चाहे मूर्खता से, पर इसका विवेचन करने का काम क्या इस चिमनी का है? मरनेवाले मरें, जीनेवाले जिएँ। दूसरों को पंचायत? अच्छा, यदि यह मान लिया जाय कि चिमनी इस प्रकाश की रक्षक है, मेह आँधी-हवा से वह उसकी रक्षा

करती है, पर इस रक्षा से उस लौ का क्या स्वार्थ है ?" चिमनी उस पर क्या उपकार कर रही है ? यह रक्षा तो केवल उसका जलना बनाए रखने के लिये है। पर यह कैसा अत्याचार है, जो जलने को उत्सुक नहीं है, उसे जलाए रखने की चेष्टा में यह चिमनी स्वयं भी असह्य ताप सह रही है, और जो जलने को उत्सुक है, उसे इस तरह रोक रक्खा है ? जब बत्ती को जलना ही है, तो एक साथी पाकर उसे कुछ ढाढ़स ही होता। न होता, तो पतंग के उत्साह से उसे कुछ तो जलने में उत्साह होता ? और, यह सब यदि नहीं था, और पतंग को रोकना भी उतना ही आवश्यक था, जितना बत्ती को जलने देना, तब इतना तो करना चाहिए ही था कि वह प्रकाश को बाहर पतंग की दृष्टि तक न पहुँचने देती। पर उधर प्रकाश को बेरोक छिटका रक्खा है ! इधर पतंग को घुसने की इजाजत भी नहीं है, यह तो बड़ी मुश्किल है ! बड़ा अंधेर है ! बहुत ही धींगा-धींगी है ! यह तो वही बात है कि 'मारे-ही-मारे और रोने न दे।'

जिस समय लैंप के सामने खड़ी होकर बहू यह सब सोच रही थी, उस समय एक व्यक्ति दबे पैर उस कमरे में घुस आया था, जिसकी उसे कुछ भी सुध नहीं थी। बहू के मुख का केसर के समान सुनहरा रंग लैंप के प्रकाश में धक्-धक् चमक रहा था। आगंतुक चोर की तरह भीतर घुस आया था, और चोर ही की तरह छिपकर उस सौंदर्य का निरीक्षण

कर रहा था, वह व्यक्ति प्रवीण थे। अपने बाल-सखा भगवती को उधर मित्रों में अटकाकर आप उसकी स्त्री से एकांत में भेंट करने के लिये निश्शंक उस घर में घुस आए थे। पतन के मार्ग में सब कुछ संभव है, और जो पतन भूख-प्यास में होता है, वह तो और भी भयंकर होता है। पाठक! एक सहृदय पुरुष का ऐसा ही पतन आपके सम्मुख है।

एकाएक बहू की निगाह उधर उठ गई। सच पूछो, तो उसने उस समय प्रवीण को देखा नहीं। क्योंकि उस समय तक भी वहाँ अँधेरा था। किंतु प्रवीण उसे उधर देखते ही घबरा गए। वह चार क़दम आगे बहू की तरफ़ बढ़ गए।

सुनसान घर में एकाएक प्रवीण को देखकर बहू सहम गई। उसने एक हाथ से अपने वस्त्र संभालते हुए दबी ज़बान से कहा—"वह तो यहाँ आए नहीं हैं। आप ऊपर जाकर बैठक में बैठें।"

प्रवीण बहुत ही घबरा रहे थे। उनके माथे से पसीना चू रहा था, और मुँह सूख रहा था। वह बड़े प्रयत्न से बोले—"यह मुझे मालूम है; इसीलिये यहाँ आया भी हूँ। भगवती अभी इधर नहीं आवेगा।"

बहू एकदम सहम गई। उसने आशंका की दृष्टि से प्रवीण को देखकर काँपते-काँपते कहा—"तब आप यहाँ क्यों आए हैं? ऊपर जाइए, कोई देख लेगा।"

प्रवीण ने ज़रा तेज़ स्वर में कहा—"अच्छा, देख ही लेगा, तो क्या होगा। बहुत होगा, मार डालेगा। मुझसे अब नहीं सहा जाता।" इतना कहकर वह बहू की तरफ़ बढ़े।

बहू ने हड़बड़ाकर कहा—"नहीं-नहीं, इधर मत आना। आप बाहर जाइए। मैं आपसे बात नहीं करूँगी।" इतना कहकर वह डर से एक दीवार से चिपककर खड़ी हो गई, और भयभीत दृष्टि से प्रवीण की ओर देखने लगी।

प्रवीण वहीं रुक गए। उन्माद उनकी रग-रग में रम रहा था। पर वह सँभलकर बोले—"बहू! डरो मत। क्या मैं तुम्हारे लिये अनजान आदमी हूँ, या कभी तुम्हारे घर आया नहीं हूँ?" बहू ने कुछ काँपती आवाज़ में जल्दी-जल्दी कहा—"किंतु इस समय हमें कोई अकेले देख लेगा, तो क्या कहेगा?"

प्रवीण बोले—"कह तो चुका। बहुत करेगा, मार डालेगा!"

"और मैं भी तो मारी जाऊँगी? वैसे ही बहुत नामधराई हो रही है। आपको क्या यह आचरण शोभा देता है? जीजी को मुँह दिखाने लायक़ भी नहीं रहूँगी। आप बाहर जाइए। मैं हाथ जोड़ती हूँ। आप बाहर जाइए।" इतना कहकर बहू ने सचमुच हाथ जोड़ दिए। उसकी आँखों से आँसू ढरकने लगे।

प्रवीण एक क्षण स्तब्ध खड़े रहे। उन्होंने अत्यंत अनुनय

की दृष्टि से बहू को देखते हुए कहा—"बहू ! मैं बड़ा दुखी हूँ, ईश्वर न करे, कुछ तुम्हारा अनिष्ट हो। मैं अभी जाता हूँ, पर तुम मुझे एक बात साफ़-साफ़ बता दो।"

बहू ने झटपट बात तय करने के विचार से कहा—"क्या बात ?"

"साफ़-साफ़ तो कहोगी न ? अटकाना नहीं। सची-सची कहना।"

बहू ने डरते-डरते कहा—"सच ही कहूँगी। क्या बात ?"

प्रवीण बोले—"ठीक-ठीक बताओ, तुम मुझे चाहती हो या नहीं ?"

बहू इसी प्रश्न की आशा कर रही थी। एकाएक [illegible] सामने देखकर वह घबरा गई। पर उसे छिपने को [illegible] नहीं थी।

प्रवीण बोले—"बस, हाँ या न, [illegible]। मैं चला जाऊँ। इसी प्रश्न पर अब मेरा जीना-मरना है।"

बहू को कुछ जवाब न सूझा। वह काठ की तरह खड़ी रह गई। अंत में उसने घबराकर कहा—"नहीं-नहीं, अब आप जाइए। देखो, कोई आ जायगा।" इतना कहकर वह भय-भीत दृष्टि से अपने चारों तरफ़ देखने लगी।

प्रवीण बोले—"चाहे जो हो, मैं तुम्हारे मन की बात जाने बिना नहीं जाऊँगा। संसार में जो सबसे बड़ा डर था, वह मैंने त्याग दिया है।"

बहू चुप थी। प्रवीण ने कहा—"तो मैं भगवती के आने तक यहीं खड़ा रहूँ?"

बहू ने पुनः हाथ जोड़कर रोते-रोते कहा—"हाय-हाय, क्यों इस अबला को मारते हो? तुम चले जाओ। जाओ।"

प्रवीण बोले—"तो बोलो, क्या तुम मुझे चाहती हो?"

बहू ने रोते-रोते कहा—"नहीं।"

प्रवीण ने वह शब्द सुना, और पी गए। उन्होंने शून्य दृष्टि से एक बार चारो तरफ़ देखा। फिर बोले—"तो तुमने मेरा चित्र क्यों माँगा था?"

"घर में रखने के लिये।"

"क्यों?"

"अपने आदमी को सभी रखते हैं। अब तुम जाओ।"

प्रवीण ने कहा—"मैं तुम्हारा कौन हूँ?"

बहू बोली—"[illegible] उनके बड़े भाई हैं। वह उस चित्र को देखकर प्रसन्न होते हैं।"

प्रवीण के नेत्रों में आँसू आकर गालों पर ढरक गए। उन्होंने तनिक बहू के पास खिसककर कहा—"बहू! क्या मैं भगवती से देखने में कुछ बुरा लगता हूँ?"

बहू ने कहा—"आप यह सब फ़िज़ूल बात क्यों कहते हो? क्या आप आज मेरा सर्वनाश करोगे? ऊपर जाकर बैठिए।"

प्रवीण चुपचाप रोते रहे। बहू ने रोना बंद कर अत्यंत

गंभीर और करुण स्वर में कहा—"विधाता की रचना और प्रारब्ध पर आपको संतोष करना चाहिए। अकेले आपकी चेष्टा कितनों को बना-बिगाड़ सकती है। मुझ ग़रीब की इतनी मान लीजिए, जो कुछ है, मन में रखिए। मेरी इज्जत और शील को नष्ट न कीजिए। स्त्री पति की वस्तु है। पिता जिसे देता है, वही पति बन जाता है। आपका मेरे ऊपर यह भाव नहीं होना चाहिए। आप इतने विद्वान् और बड़े होकर क्या इतनी मेरी विनती को भी पूरा नहीं कर सकते? मैं तुच्छ स्त्री क्या आपको उपदेश देती अच्छी लगती हूँ?"

प्रवीण रोने लगे। बहू उकताकर इधर-उधर बड़ी बेचैनी से देखने लगी। वह सोचती थी कि कहीं मार्ग मिले, तो मैं ही निकल जाऊँ।

प्रवीण ने उठकर और आँख पोंछकर एक लंबी साँस ली, और अवरुद्ध कंठ से बोले—"नहीं बहू! भगवान् तुम्हें सुखी करें। मैं तुम्हारे मार्ग से हटा जाता हूँ, पर तुम एक बार—सिर्फ़ एक बार—मुझे अपना रूप निहार लेने दो। बहुत दिन से तड़प रहा हूँ। बिना ऐसा किए तुम्हें छोड़ न सकूँगा। तनिक मेरे पास आ जाओ। मैं शपथ-पूर्वक कह सकता हूँ, इसके बाद तुम मुझे कभी न देख सकोगी।"

लाचार, बहू ने झटपट यह दृश्य समाप्त करने को मजबूरन् यही किया। वह उनके पास आ खड़ी हुई। प्रवीण घुटने के बल धरती में बैठकर उस रूप और यौवन को देखकर रोने
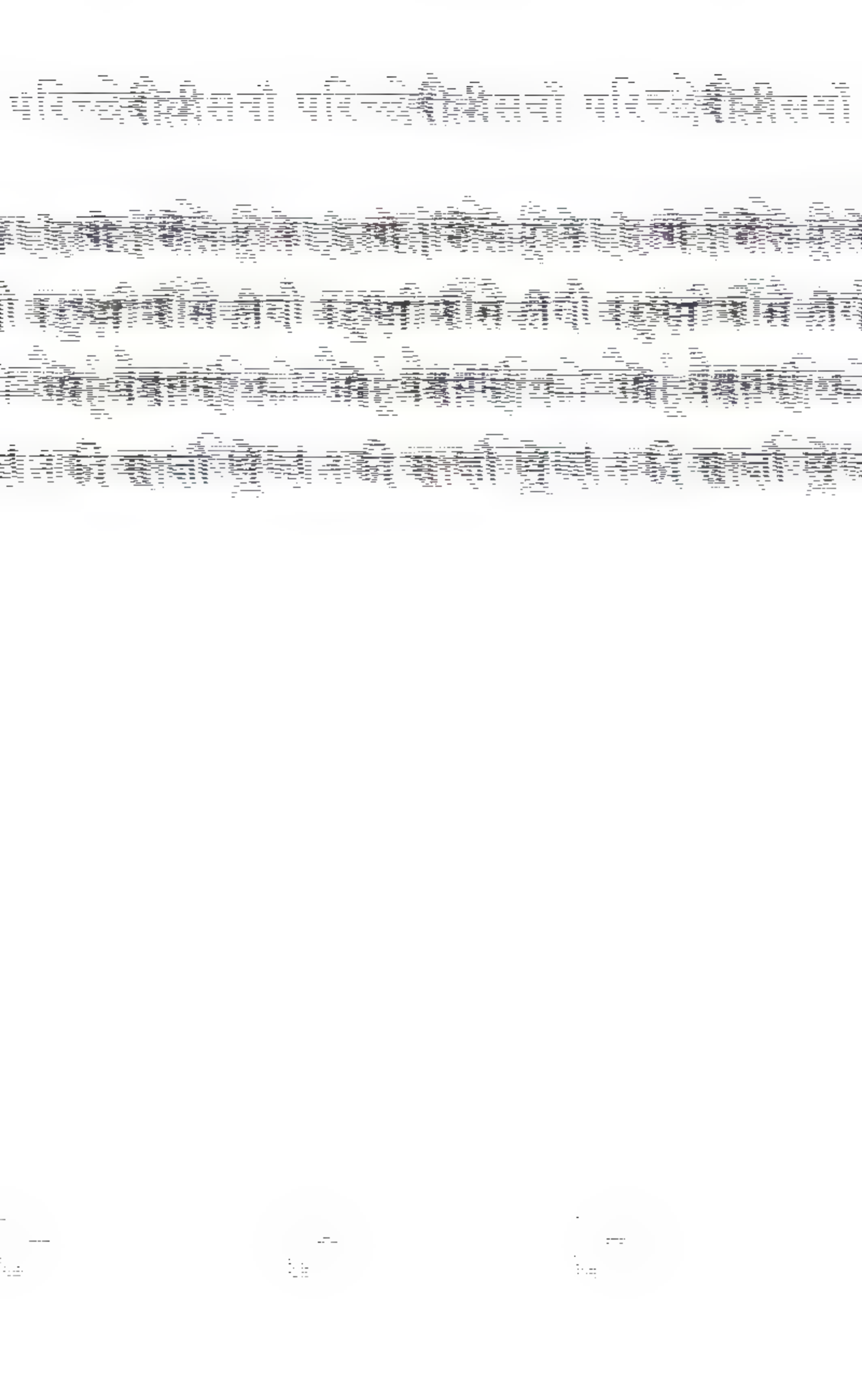
पच्चीसवाँ परिच्छेद

यह देखते ही भगवती के तन-बदन में आग लग गई। उसके शरीर का सारा लोहू सिर में चढ़ गया। उसने शेर की तरह गरजकर कहा—"लुच्ची ! बदमाश ! फाहशा !" और इसके बाद शेर ही की तरह झपटकर वह दोनो पर टूट पड़ा। क्षण-भर में ही इतना काम हो गया, पर इसी क्षण में बहू हाय मारकर धरती पर गिर गई, और प्रवीण कांपते-कांपते दीवार से सटकर खड़े हो गए। भगवती पहले बहू पर टूट पड़ा। उसे इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं था कि वह किस दशा में है। वह दाँत कटकटाकर उसकी छाती पर चढ़ बैठा, और दोनो हाथों से उसके बाल पकड़ उसका सिर उठा-उठाकर धरती पर पटकने लगा।

प्रवीण का आतंक कुछ कम हुआ। अब वह लज्जा और ग्लानि के मारे धरती में गड़ने लगे, पर सामने का दृश्य वह किसी तरह नहीं देख सके। अपने हृदय में किसी तरह साहस भरके वह धीरे-धीरे भगवती की ओर बढ़े। उन्होंने डरते-डरते उसके कंधे को छूकर कहा—"उसे मत मारो, उसे मत मारो। उसके बदले तुम मेरी बोटी-बोटी काट लो। क़सूर मेरा है। अपराधी मैं हूँ। वह सर्वथा निर्दोष है।"

भगवती उठ बैठा। उसका मुख और नेत्र अंगारे के समान

लाल हो रहे थे। उसने लरजती ज़बान से कहा—"मेरे सामने से टल जा, वरना तेरा ख़ून पी जाऊँगा।" प्रवीण को वहाँ ठहरने का साहस नहीं हुआ। न उनके मुख से एक शब्द निकला। वह बदहवास की तरह उस कमरे से निकल गए।

भगवती ने होठ काटकर कहा—"घृणित कुत्ता!" और इसके बाद उसने क्रोध से तलमलाकर अपने कपड़े फाड़ डाले, और बाँह काट खाई। अब वह फिर मिसमिसाकर बहू की तरफ़ दौड़ा।

पर अब की बार वह ठिठक गया। उसने देखा, बहू के मुख और नाक से ख़ून निकल रहा है, और उसका चेहरा सफ़ेद पड़ गया है। उसने डरकर उसकी नाड़ी टटोली, हृदय की धड़कन देखी। बहू उसी मूर्च्छितावस्था में बड़े ही कष्ट से साँस ले रही थी। धीरे-धीरे उसका क्रोध कुछ कम हुआ, और भय तथा घबराहट के चिह्न उसके चेहरे पर अंकित हुए। उसके सिर में चक्कर और आँखों में अँधेरा आने लगा, और वह दोनो हाथों से सिर पकड़कर वहीं बैठ गया। अब वह इस योग्य था कि कुछ सोच सके। धीरे-धीरे उसकी स्मृति का उदय हुआ। विवाह के बाद की नववधू का रहस्यमय सुख, उस सुख का छलकता हुआ यौवन, उस यौवन का उन्मादक रस उस समय क्रमशः मूर्तिमान् होकर उसके नेत्रों में नाचने लगा। इसके बाद उसने अपने हृदय के द्वार को खोलकर देखा, जो एक बार जगमगाता रहा है, वहाँ गुप

अंधकार था, और भी देखा, वहाँ की प्यास मिटी नहीं थी। फिर देखा, वह रस-भरा कटोरा औंधे-मुँह धूल में पड़ा है। भगवती ने एक बार बहू की ओर देखना चाहा, पर देख न सका। वह दोनो हाथों से कसकर, मुँह ढाँपकर, बिलख-बिलखकर रोने लगा। अब उसका ध्यान प्रवीण की तरफ़ गया। उसने देखा, वह प्रवीण उसके सुकुमार मस्त बालपन के इतिहास की पोथी है, जिसके एक-एक पन्ने में भाँति-भाँति के रंगों के सुंदर चित्र बने हुए हैं, और वे सब चित्र उसी के चरित्र की मूर्तियाँ हैं। उसने घबराकर, आँख खोलकर, अपने चारो ओर देखकर कहा—"हाय! हाय! पापिष्ठ! तुझे क्या हो गया? तेरे देव-शरीर में कौन-सा भूत घुस आया?" इतना सोचते-सोचते उसके शरीर की गर्मी बढ़ने लगी। वह बड़बड़ाने और होठ काटने लगा; अब वह बैठा न रहा। वह उन्मत्त की तरह पैर पटक-पटककर घूमने और उनको दुर्वचन कहने लगा।

इसी बीच में बहू की मूर्च्छा जागी, पर उस समय उसका दिमाग़ इतना चक्कर खा गया था कि वह कुछ भी नहीं सोच सकी कि किस परिस्थिति में है। वह धीरे-धीरे उठी, पर उठते-उठते ज्यों ही उसकी दृष्टि पति पर पड़ी, जो कटहरे में बंद शेर की तरह कमरे में घूम रहा था, तो सब घटना बिजली की तरह उसके सिर में घूम गई, और वह सहमकर फिर धरती पर चरहवास होकर लोट गई।

भगवती ने उसे उठते हुए देख लिया था। वह बड़बड़ाता हुआ और लंबी-लंबी डग चीरता उसके पास आया, पर उसने देखा, वहाँ आते-आते वह फिर धरती में चिपक गई है। उसने लरजती हुई जबान से कहा—"मर गई या अभी जीती है?" एक सन्नाटा रहा। भगवती ने और भी तीव्र ढंग से कहा—"बोलती है या गँड़ासा लाकर कुट्टी करूँ!" बहू अब भी नहीं बोली, पर धीरे-धीरे उसका एक हाथ पति के चरण छूने को बढ़ने लगा। पर जैसे साँप को अपनी ओर बढ़ता देखकर आदमी झिझकता है, उसी प्रकार भगवती झिझककर पीछे हटा, और उसने घृणा और क्रोध के स्वर में कहा—"पापिनी! खबरदार, जो मुझे छुआ।"

अब बहू ने धीरे-धीरे सिर उठाकर पति पर एक दृष्टि डाली। वह दृष्टि कैसी थी? उसमें करुणा, अनुनय और विनय की अनंत पुट लगी हुई थी। वे आँखें यद्यपि बहुत तुच्छ और गिनती में केवल दो ही थीं, किंतु कितनी शक्ति के साथ क्षमा-दया माँग रही थीं, यह कहना कठिन है। क्षण-भर के लिये भगवती विचलित हुआ। ऐसा मालूम होता था, वह बहू को अभी गोद में भरकर उठा लेगा। वह झुका भी, पर बहू के मुख के निकट आकर उसके भाव में पुनः रौद्रता आ गई। बहू ने अत्यंत क्षीण स्वर में कहा—"स्वामी! मैं पापिनी नहीं हूँ। मुझे क्षमा...।" भगवती के गले की नसें फूल आईं। उसने वहीं घुटने के बल बैठ उसके छितराए बालों में

एक झटका देकर कहा—"अच्छा पुण्यवती, यह तो बता कि यह लड़का किसका है ?" यह बड़ी भारी चोट थी, जिसे अबला स्त्री न सह सकी, और वह फिर पछाड़ खाकर धरती में गिर पड़ी। भगवती अब भी सिंह की तरह अत्यंत तीव्र दृष्टि से उसे घूर रहा था। देखते-ही-देखते उसकी तीव्रता बढ़ गई। क्रोध के साथ एक और भी तीव्र विष उसके रोम-रोम को जलाने लगा। उसने कड़ककर कहा—"खड़ी हो !"

वह धीरे-धीरे उठकर बैठ गई। भगवती ने कहा—"उतार, सब गहने उतार।" वह चुपचाप बैठी रही। भगवती ने कहा—"उतारती है या लात जमाऊँ ?" वह को कोई चारा न था। उसने आंसू बहाते-बहाते साहस करके एक बार पति की ओर करुण दृष्टि से देखा, पर वहां दया की रत्ती-भर भी गुंजायश न थी। वह धीरे-धीरे अपने गहने उतारने और सामने ढेर करने लगी। भगवती वज्र की तरह खड़ा यह सब देखता रहा। जब चूड़ी और बिछुए रह गए, तो उसने कहा—"यह भी उतार।" इस बार अबला ने पुनः नेत्र उठाकर स्वामी से रोते-रोते पैर पकड़कर कहा—"स्वामी ! इन्हें रहने दो। इन्हें मत छीनो।" भगवती ने एक भयंकर मुस्किराहट से दाँत निकालकर कहा—"माया छोड़, उतार, वरना उँगलियां सरौते से कतर लूँगा।"

अंतत: रोते-कलपते उसने वे भी उतारकर सामने रख दिए। अब भगवती ने उससे द्वार की ओर उँगली दिखा-

कर कहा—"अच्छा, अब निकल यहाँ से। मुँह काला कर।"

इतना सुनते ही वह काँप उठी। यहाँ तक की उसने आशा भी नहीं की थी। पर उसमें अब दया, क्षमा, प्रार्थना की भी कुछ शक्ति नहीं रह गई थी। वह चुपचाप बेत की तरह थर-थर काँपती अपने कपड़ों में सिकुड़ी बैठी रही।

भगवती ने एक लात मारकर कहा—"उठती है या उठाकर फेंक दूँ?" वह निश्चल बैठी रही। उसके शरीर के रक्त की एक-एक बूँद सौ-सौ मन की हो रही थी, और आँखों से कुछ सूझता नहीं था। वह इतने जोर से काँप रही थी, मानो उसे कोई पकड़कर हिला रहा हो। पर उसकी जीभ ऐसी तालु से सट गई थी कि वह बोल ही न सकती थी।

अब भगवती उसे जबर्दस्ती बाहर निकालने को आगे बढ़ा। उसे देखकर वह हाहा करके पूरे जोर से चिल्ला उठी—"मुझे मार डालो। टुकड़े कर दो। मैं बाहर कहाँ जाऊँगी?"

खेद की बात है कि यह सब अनुनय व्यर्थ था। भगवती ने उसका झोंटा पकड़कर और धक्का देकर द्वार के बाहर कर दिया, और उसके बाद सोते हुए बच्चे को भी निर्दयता-पूर्वक उठा लाकर उसकी गोद में डाल दिया। इसके पीछे वह जोर से दरवाजे में ताला लगा स्वयं भी एक ओर को चला गया। उसी गंभीर रात्रि में—उसी सन्नाटे में—वह अकेली खड़ी रह गई। उस समय उसके भीतर-बाहर सब जगह अँधेरा था। आशा का कहीं टिमटिमाता प्रकाश तक न था।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

सत्तरह वर्ष की अबोध अबला रात के बारह बजे घोर अँधेरी रात में, सुनसान गलियारे में, अकेली खड़ी थी। उसके शरीर पर एक साधारण धोती थी। गहने के नाम सुहाग के चिह्न भी छिन गए थे। सर्दी बहुत थी. पर वह यत्न से उसी ठंडे पतले वस्त्र में अपने बालक को लपेटे खड़ी धुआँधार निश्शब्द रो रही थी। बच्चे को कदाचित् उस बात का कुछ भी ध्यान न था। वह माता के स्तनों की गर्मी में उसकी छाती से लगा हुआ सुख की नींद सो रहा था। बहू बड़ी देर तक खड़ी रोती रही।

बहू ने कभी घर से बाहर पैर नहीं धरा था। कौन बता-वेगा कि रास्ता किधर है। और, कहीं जाना हो, तो वहाँ का रास्ता भी पूछा जाने का भी तो ठिकाना नहीं था। एक तो वैसे ही काफी अंधकार था, तिस पर उसकी आँखें सर्वथा अंधी हो रही थीं। उसे कुछ देख ही न पड़ता था।

एक बार उसने पीछे फिरकर, मुँह उठाकर अपने घर की ओर देखा। शीघ्र ही उसकी दृष्टि दूसरी मंजिल पर की एक खिड़की पर अटक गई। वह सोचने लगी, इस खिड़की के भीतर क्या-क्या घटनाएँ हो चुकी हैं। इतनी

जल्दी वे दिन चले गए ? उसने देखा, वर भी इस समय काले भूत की तरह उसे डरा रहा है। उसने उधर से आँखें फेर लीं।

अब उसने रोना बंद किया, और वह सोचने लगी। उसने सोचा, आखिर मेरा अपराध क्या था ? इस बात को सोचते-सोचते वह कुछ घबरा उठी। वह सोचने लगी, क्या मैं स्वामी से अधिक उन्हें पसंद करती हूँ ? इसका कुछ भी निर्णय वह न कर सकी। उसे सोचते-ही सोचते यह ध्यान आया, वास्तव में मैं अपराधिनी हूँ। अब उसके शरीर में लज्जा की कँपकँपी आ गई। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो निस्संदेह मेरे मन में पाप-वासना है। तब क्या यह उचित हुआ है ? धीरे-धीरे उसकी आँखों में एक मूर्ति की छाया का उदय हुआ। बहू उसे मानो निस्संकोच भाव से देखने लगी। वह मूर्ति बड़ी सुंदर, रसमय और प्रफुल्ल थी। बहू ने पहचाना, यह है प्रवीण। पहचानते ही घबराकर उसने आँखें बंद कर लीं। उसने मन-ही-मन कहा—"यह फिर यहाँ क्यों ?" अब वह बल-पूर्वक स्वामी की मूर्ति का उन्हीं नेत्रों में आवाहन करने लगी। पर जितना वह बल लगाती और प्रवीण को दूर करती थी, उतना ही प्रवीण की मूर्ति चिपककर बैठती थी। वह हारकर रोने लगी। वह रोना सर्वथा अनुताप का था। वह मानो मन-ही-मन कह रही थी—"मैं क्या उनसे बोलने लगी थी, और इतना उन्हें घरेलू बना लिया था ? वह सुंदर हैं, और विद्वान् हैं, तो मुझे क्या ? भगवान् ने मुझे जो दिया है, वह

क्या बुरा था ? मेरे स्वामी क्या मुझे प्यार नहीं करते थे ?" इतना सोचते-सोचते हठात् उसे यह ध्यान आया कि मैं क्या स्वयं ही स्वामी को कुछ कम प्यार करती हूँ ? अब उसे फिर इस बात पर संदेह होने लगा कि क्या मैं वास्तव में अपराधिनी हूँ ? अंत में निश्चय हुआ, अपराधिनी अवश्य हूँ। मैं क्यों उनका ध्यान करती थी ? क्यों उन्हें छिपकर देखती थी ? क्यों उनके हास्य में योग देती थी ? वह मेरे कौन थे ? कुल-वधू को क्या इस तरह पर-पुरुष से खुल्लमखुल्ला व्यवहार रखना चाहिए ? छिः, वह अब मन की ज्वाला से परेशान होकर फिर रोकने लगी। रोते-रोते ही उसकी विचारधारा तीव्र हुई। उसने अपनी तत्कालीन परिस्थिति को देखा। अपनी असहाय अवस्था को देखा। अपने भविष्य को देखा, और बच्चे के संबंध को, घोरातिघोर लांछन को देखा। अब उसके आँसू सूखने लगे, और मन को क्षोभ और क्रोध ने घेर लिया। उसने कहा—"तो क्या सब अपराध की जड़ मैं ही हूँ ? इन लोगों ने मुझे यहाँ तक पहुँचाने में कुछ भी मदद नहीं दी ? मैं ही पहले-पहले उन्हें जबर्दस्ती उनके घर से खींच लाई थी ? कैसा अन्याय है ?" उसने अपनी बीती हुई सब बातों को याद किया। उसने निर्णय किया, मेरा वैसा अपराध नहीं है, इन सबों ने मिलकर ही तो मुझे वहाँ तक पहुँचाया था। अच्छा, यदि मुझे वह कुछ अच्छे लगने भी लगे, तो यही मेरा अपराध है, पर इसी अपराध पर मैं त्याग

गई, और मेरा बच्चा ? मेरा बच्चा व्यभिचार की संतान बताया गया ! इतना सोचते-सोचते बहू को मान हो आया । वह सर्पिणी की तरह फुफकार मारकर लंबी-लंबी साँस लेने लगी।

इतने ही में बच्चा रो उठा। अब तक वह अपने दुःख और विचार की तरंगों में अपनी परिस्थिति को मानो भूल गई थी; अब उसे बच्चे का रोना सुनकर मानो एकाएक उसका ध्यान हो आया। उसने सब तरफ़ के विचारों की धाराओं को रोककर अपने बच्चे को छाती से लगाया, और भयभीत दृष्टि से अपने चारो ओर के अंधकार को देखा। उसका साहस छूट गया। विवेचना और विचार खो गया। वह असहाय, अबोध अबला बच्चे को छाती से लगाए हुए बड़ी ही घबराहट से अपने चारो ओर अपने कर्तव्य के पथ को देखने लगी। पर वह उसे मिला नहीं।

बच्चा फिर रो उठा। या तो वह भूखा था, या सर्दी खा रहा था। बहू के पास एक ही उपाय था। उसने उसे स्तन से लगा लिया, पर वह इस बात से बहुत डरी कि बच्चे का रोना सुनकर पास-पड़ोस के आदमी न जाग जायँ। इस डर से इतना घबराई कि बिना कुछ विचार किए ही वह क़दम बढ़ाए एक तरफ़ चल दी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अज्ञात ज्ञान कुछ-कुछ काम करा देते हैं। इसी प्रकार का हाल इस समय बहू का था। वह केवल बच्चे के रोने के भय से चल दी थी, पर किधर, यह वह नहीं जानती थी। पर फिर भी वह एक खास तरफ़ जा रही थी।

उस तरफ़ उसके पैर स्वयं ही उठ रहे थे, जिसकी उसे स्वयं कुछ भी खबर नहीं थी। वह सड़क प्रवीण के घर की थी। एक-दो बार बहू के पैरों ने उस सड़क को प्रथम भी देखा था।

शीघ्र ही उसे इस बात का ध्यान आया कि वह जा कहाँ रही है? इसके साथ ही उसे यह विचार हुआ कि जाने का केवल एक ही ठिकाना है। वह है प्रवीण का घर। प्रवीण का घर, यह ध्यान में आते ही वह चौंकी। फिर वहीं? जहाँ सर्वनाश है, फिर वहीं? अब उसने देखा, वह वास्तव में उसी के घर की ओर जा रही है। अब एक बार वह फिर संकट में आई। पर वह रुकी नहीं, रुक सकती ही न थी। खड़े होने पर बच्चे के रो उठने का और किसी के टोकने का उसे बड़ा भय था, पर प्रवीण के घर जाने को किसी तरह उसका मन नहीं होता था। किंतु दूसरा कोई चारा भी न था। उसका एक पैर दस-दस मन का हो रहा था। पैर बढ़ रहे थे। मन हट रहा था। इसी दुविधा में वह प्रवीण के घर के आगे जा पहुँची।

पाठक! एक बार उस घबराहट, क्लेश और वेदना का अनुमान कीजिए, जो उस कुलवती बालिका के सम्मुख थी, जिसके संबंध में मेरी तो यही राय है कि वह निरपराधिनी थी; परंतु यदि वह पतन की ओर चली भी थी, तो मूर्खों ने उसे उधर ही ढकेल दिया था। अब उसके सामने सिवा पतन की ढलुआ पहाड़ी के और कुछ न था। फिर भी वह पापिनी न थी। वह किसी तरह प्रवीण के

घर जाने को राजी नहीं हुई। उसका बालक पुनः रो उठा। उसे रोता देख उसने एक बार हारकर विचारा। चलूँ, हर्ज ही क्या है ? जीजी तो वहाँ हैं ही। उनसे न बोलूँगी। न उनके सामने आऊँगी। पर यह विचार ठहरा नहीं। वह शीघ्र ही पुरानी रुई की तरह उड़ गया। तब ! अब वह क्या करे ? यह सवाल उसके हृदय में उठ खड़ा हुआ। बच्चा फिर रो उठा। बिना विचारे ही वह प्रवीण के घर के द्वार पर जा खड़ी हुई। पर द्वार न खटकाया। खड़ी रही। फिर वहीं बैठकर सोचने लगी, अब उसे पुनः रोना आया। क्योंकि अब उसे कहीं कोई सहारा न था, न चारा। वह चुपचाप बैठी रोती रही। बालक फिर रो उठा। एक बार फिर वह कुंडी खटखटाने को उठ खड़ी हुई। पर एक क्षण खड़ी ही रही, मानो उसका शरीर पत्थर का हो गया। उसने एक बार बच्चे की तरफ देखा। वह कुछ कुन-मुन कर रहा था। एका-एक एक भीषणता उसकी दृष्टि में पैदा हुई। उसने शून्य दृष्टि से अपने चारो ओर देखा, घोर अंधकार था। आँखें फाड़-फाड़कर देखा, कहीं कुछ न था। आँखें बंद कर भीतर देखा, वहाँ भी कुछ न था। अब उसने बच्चे की ओर देखा। देखा, वहाँ कुछ है। वह उधर ही देखती रही। बच्चा फिर रो उठा। रोते ही दृष्टि का रंग बदल गया। वह फिर भीषण दृष्टि से बच्चे को देखती रही। अंत में उसने कर्तव्य निश्चय किया। अंतिम बार पुनः उसने उस मकान पर दृष्टि डाली। पुनः

उसने जेब से एक डिबिया निकाली। उसमें जो कुछ था, उसकी एक गोली बना बच्चे के मुख में स्तन दे दिए। बाद को और जो कुछ बचा था, सबका गोला बनाकर स्वयं निगल गई। इसके बाद वह कटे वृक्ष की तरह वहीं सीढ़ियों पर पड़ रही, और बच्चे को छाती से लगाकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कैसे मूर्ख वे लोग हैं, जो पतित को पतन के मार्ग पर ढकेलकर अकेला छोड़ देते हैं!

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

संसार में जो सबसे बड़ा अपमान है, वह प्रवीण को मिला, और वह भी ऐसे आदमी से, जो संसार में उनका सबसे अधिक आदर करता था। प्रवीण यदि केवल लंपट-व्यभिचारी होते, तो वह शीघ्र ही उस अपमान को सहन करने योग्य बन जाते, पर वह थे प्यासे, घमंडी, दुखी और क्रोधी। सो वह उस समय भगवती के घर से निकलकर घर न जा सके। उन्होंने आत्मघात करने का विचार किया, और इसी इरादे से वह जंगल की तरफ़ चले गए। नगर के बाहर एक चामुंडा का थान था। वह उसी शून्य, पुराने और भयंकर स्थान में—उस सन्नाटे की रात में—जा पहुँचे। यदि वह तुरंत ही पेट में एक पत्थर बाँधकर तालाब में डूब जाते, या दुपट्टे की फाँसी लगा लेते, तो शायद आत्मघात कर सकते। क्योंकि उनका कुछ ऐसा स्वभाव था कि बिना विचारे केवल धुन में जो कुछ वह कर सकते थे, वही तो कर सकते थे। पर जब उनकी विचार-धारा चलती थी, तो वह कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय ही न कर सकते थे। हृदय उनके शरीर और आत्मा का स्वामी था। मस्तिष्क उनका दब्बू कुत्ता था। हृदय का उबाल जो चाहता, कराता। मस्तिष्क को केवल उसकी आज्ञा

पालन करनी पड़ती थी। उनकी विचार-शक्ति का काम केवल इतना था कि वह यह बता दे कि काम हो गया या नहीं? और जो काम उनकी विचार-शक्ति को सौंपा जाता था, वह पूरा तो एक ओर रहा, कभी प्रारंभ ही न होता था।

ऐसा ही उस समय हुआ। वह उस भयप्रद देवस्थान में जाकर एकदम मरे नहीं, एक पत्थर पर चुपचाप बैठकर हांफने लगे। कुछ देर तक तो उनके होश-हवास ठिकाने ही न रहे, पर थोड़ा ठहरकर उनकी विचार-शक्ति लौटी। वह अभी जो दुर्घटना हुई है, उस पर शुरू से आखिर तक विचार कर गए। सब बात विचारकर वह लज्जा से मरने लगे, मानो कोई उनका गला घोट रहा हो। उन्होंने अपनी क़मीज़ का बटन खोलने को एक झटका दिया। क़मीज फट गई। अब उन्हें अपने ऊपर ऐसा क्रोध आया कि वह अपने ही आप अपने शरीर को काटने लगे। एक बार उन्होंने जोर से अपना माथा कूट डाला, और होठ इतनी जोर से काटा कि उसमें खून आ गया। पर मानो पीछे वह अपने ऊपर कुछ दयालु हुए। उन्होंने अपनी परिस्थिति को देखा। अपनी प्यास को देखा, तो अथाह सकरुणा और दया से उनका हृदय भर गया। वह अब रोने लगे। रोते-ही-रोते उन्होंने अपनी प्यास बुझाने के कुत्सित ढंग पर विचार किया। बहू का निर्दोष सुंदर मुख एक बार सुख से उत्फुल्ल कमल की तरह उसी अंधकार में से उज्ज्वल स्वर्गीय आलोक की तरह से विकसित हुआ। वह उत्सुकता से उसी

ओर देखने लगे। देखते-ही-देखते वह मुख मुर्दे की तरह सफ़ेद हो गया। उसमें कई ज़ख़्म हो गए। उनमें से लाल-लाल अंगारे की तरह ख़ून बहने लगा। प्रवीण ने भयभीत दृष्टि से यह देखा। फिर काँपती ज़बान से कहा—"यह क्या ?" अब उन्होंने देखा, यह सब क्यों हुआ ? अभी आध घंटा प्रथम जो कांड हुआ था, वह उन्हें साफ़ आईने की तरह देख पड़ता था। बहू का वही सफ़ेद मुख मानो घृणा से होठ सिकोड़कर कह रहा था—"निर्लज्ज ! क्या मैं ऐसी थी ?" प्रवीण ने देखा, सचमुच इन सबका उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर है। वह बोले—'हाय ! मैं कैसा पापी, कैसा मूर्ख हूँ ! कैसा नीच हूँ ! मैंने अपनी आग बुझाने को दूसरे के घर में आग लगाई है। पर दूसरे का घर धक् धक् करके जल रहा है। फिर भी मेरी आग नहीं बुझी ! हाय, इस कलेजे के पाप की आग नहीं बुझी ! यह नीच प्यास नहीं बुझी !" इतना कहकर उन्होंने दोनो हाथों से अपनी छाती पीट डाली। अब उनको एकाएक आत्मघात करने का स्मरण आया। उन्होंने विचारकर देखा, यही उचित है। पर हम प्रथम ही कह आए थे कि विचार के सिपुर्द जो काम वह करते थे, उसका अंत तो एक ओर रहा, कभी प्रारंभ भी नहीं होता था। यही बात हुई। ज्यों ही उनके मस्तिष्क में यह विचार आया कि आत्मघात करना ही कर्तव्य है, त्यों ही वह उसके औचित्य पर और भी गंभीरता-पूर्वक विचार करने लगे। अब उन्हें मोह उत्पन्न हुआ। वह

सोचने लगे, मरने के पीछे औरों का क्या होगा। हमें लज्जा के साथ कहना पड़ता है। पीछे का ध्यान आते ही सबसे प्रथम जो मुख उनकी दृष्टि पड़ा, वह वही सफ़ेद और रक्तप्लावित मुख था। उसके बाद उनकी माता का सूखा और भीगी आँखोंवाला मुख था। उन सबके पीछे एक और मुख था। वह सुंदर तो न था, पर परम शांत था, और मानो उसमें से एक प्रकाश निकल रहा था, उसने धीरे से अपने हाथ ऊपर को उठाकर मानो कंपित स्वर से कहा—"मेरा अपराध क्या है? स्वामी! मेरा सुख, यौवन, आनंद, सब जाय, पर ये चार चूड़ियाँ मत छीनना।" इसके बाद ही प्रवीण ने उस मुख से आँसुओं की अविरल अश्रु-धारा बहती देखी। यह भी देखा कि वह मुख जब किसी तरह अपने आँसू रोक और छिपा न सका, तो वह नीचे को खिसककर अंधकार में लीन हो गया।

प्रवीण न मर सके। उन्होंने भीरु स्त्री की तरह कहा—"इसका क्या होगा? इसका क्या अपराध है?" अब क्रोध, घृणा, शोक, लज्जा, सबको छोड़ वह चिंता, केवल चिंता में डूब गए। मरने की घड़ी बहुत दूर चली गई। उसी चिंता में मग्न हो वह उसी पत्थर पर लेट गए, और उसी चिंता में उसी चिंता के स्वप्न देखते हुए सो गए। एक बार उनका सारा दुख—सारा वर्तमान और समस्त अपमान—स्वप्न हो गया।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

सूरज निकलने के बहुत प्रथम ही प्रवीण की आँखें खुलीं, और आँख खुलते ही वह हड़बड़ाकर उठ बैठे। उठ बैठने के कुछ ही क्षण बाद उन्हें मालूम हुआ, यह न उनका घर है, न उनकी शय्या है। इतनी ही देर में उन्हें सब कुछ स्मरण हो आया। वह सोचने लगे, यह स्थान मेरे सदा के सोने के स्थान से सर्वथा निकृष्ट है। मैं तो समझता था कि मैं जैसी निकृष्ट स्थिति में हूँ, उससे अधिक निकृष्ट परिस्थिति हो ही नहीं सकती। पर मान, सम्मान और गौरव देकर क्या यह पाया? इसी की तलाश में इतना सब हुआ था? प्यास के मारे बेचैन होकर तेजाब पी गया। तमाम दाँत झड़ गए। मुँह में जख्म हो गए। इतना सोचकर प्रवीण ने अपने धूल-भरे कपड़ों को देखा, और तब वह वहाँ से एक दुख-भरी साँस छोड़कर उठे।

पास ही तालाब था। उस तालाब पर जाकर प्रवीण खड़े हो गए। तालाब का जल निर्मल था। प्रवीण की प्रतिच्छाया उस निर्मल जल में काँपने लगी। प्रवीण को ऐसा प्रतीत हुआ कि शुद्धता के सम्मुख मलिन पाप काँप रहा है। वह बिना ही मुँह धोए वहाँ से हट आए।

अभी तक चारो ओर अंधकार था। पौ भी नहीं फटी

थी। वह सोचते-सोचते धीरे-धीरे शहर की तरफ़ चले। यद्यपि घर जाने का उनका मन कदापि नहीं था, पर घर जाने या मर जाने को छोड़कर और कुछ चारा न था। मर तो वह सके नहीं, अब घर ही को चले। पर यह चलना बड़ा ही कठिन था। ऐसा कठिन, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी इच्छा कदापि घर आकर किसी को मुँह दिखाने की नहीं थी। पर मुँह छिपाने को ठौर न था। निर्लज्ज और बेग़ैरत बनने का अभ्यास तो वह प्रथम ही कर चुके थे, आज उसका सूक्ष्म सिद्धांत भी वह जान गए।

एकाएक वह अपने घर के द्वार पर आ खड़े हुए। वह उस समय प्रभात की ऊषा की प्रथम किरण को मानो पीठ पर खाता हुआ चुपचाप सो रहा था। प्रवीण ने सीढ़ी चढ़कर द्वार खटखटाने को हाथ बढ़ाया ही था कि उनके पैरों में कुछ चीज़ छूती मालूम हुई। झुककर देखा, तो वह कोई स्त्री है।

थोड़े ही ध्यान से देखने पर उन्होंने बहू को पहचान लिया। क्योंकि उस समय सुबह की सफ़ेदी कुछ-कुछ आसमान पर आ गई थी। बहू को वहाँ देखते ही वह चौंक उठे। उन्होंने आतंक के स्वर में कहा—"बहू, तुम यहाँ ?"

बहू ने जवाब नहीं दिया। न वह उठी। प्रवीण ने ज़रा झुककर उसके शरीर को हिलाया। स्पर्श करते ही उन्होंने देखा, शरीर तो ठंडा मिट्टी हुआ पड़ा है।

प्रवीण ने अब बहुत ही घबराकर उसके शरीर को हिलाना

प्रारंभ किया, और बैठकर उसे ध्यान से देखा। उन्होंने देखा. उसका मुख झाग से भर रहा है, होंठ पीले पड़ रहे हैं, और आँखें फट रही हैं। अब उन्होंने उसकी नाड़ी की जाँच की। बहुत देर में उन्हें प्रतीत हुआ कि बहुत धीमी-धीमी नाड़ी चल रही है। अब उन्होंने व्यग्र होकर अपने चारो तरफ़ देखा। कुछ दूर पर एक गाड़ी जा रही थी। प्रवीण दौड़कर उसे बुला लाए, और बहू को उसमें डाल, शीघ्र अस्पताल को चलो, कहकर बैठ गए। बच्चा माता ही की दशा में माता की छाती पर पड़ा था।

उंतीसवाँ परिच्छेद

वहू ने आंख खोलकर अपने चारो तरफ़ देखा। उसे कुछ भी न मालूम हुआ कि वह कहाँ और किस दशा में है। फिर कुछ देर उसने आँखें बंद कर लीं। तदनंतर उसने हाथों से टटोलकर गुदगुदे गद्दे को देखा। इसके बाद उसने फिर आंखें खोल दीं। अब की बार उसने चारो तरफ़ आँखें घुमा घुमाकर देखना शुरू किया, पर ऐसा मालूम होता था, मानो उसकी आंखें कुछ ठीक ठीक काम नहीं कर रही हैं। अब उसने एक बार अपने मुख पर हाथ फेरा, और तब वह कुछ आश्चर्य और चिंता से मानो अपने चारो तरफ़ देखने लगी।

प्रवीण उसके सिरहाने खड़े यह सब देख रहे थे। यह बताना कठिन, वरन् असंभव है कि उस समय उनके हृदय में कितना तूफ़ान उठ रहा था। चाहे जैसे वह पतन पर फिसल रहे थे, फिर भी वह एक परम सहृदय और नरम जीव के आदमी थे, और यह पतन भी उनका प्यास के कारण था, लंपटता के कारण नहीं। पाठक भले ही इसमें कुछ भेद न समझें, किंतु मैं उसमें बहुत भेद समझता हूँ, और यही कारण था कि इस फिसलने में भी जो कुछ सुख है, उसे वह

नहीं भोग सकते थे। अब जब उनके सामने एक ऐसी स्त्री, जिसे सब कुछ था, ऐसी दशा में पड़ी है, जिसका कुछ भी नहीं रह गया है, और यह सब उन्हीं के कारण। यह ऐसी बात थी कि यदि प्रवीण पक्के दिल के होते, तो एक क्षण भी और न जीते। पर शोक इसी बात का था कि वह बड़े ही भीरु थे, मर नहीं सकते थे, मरने से अधिक कष्ट सह सकते थे।

जैसे हो सका, वह अपने को सँभालकर आगे बढ़े, और उन्होंने बहू के सम्मुख जाकर अति दीन स्वर में कहा—"बहू! अब क्या तुम होश में हो?"

बहू ने शायद उन्हें पहचाना नहीं। न उनकी बात समझी। वह मानो उन्हें पहचानने के लिये ध्यान से उनकी ओर देखने लगी। प्रवीण ने भरे हुए कंठ से कहा—"बहू-बहू! ऐसा क्यों करती हो, क्या पहचानती नहीं?"

बहू ने टकटकी बाँधकर उनकी तरफ़ देखा। फिर कुछ बोलने की चेष्टा की, पर बोल न सकी। होंठ-मात्र हिलाकर रह गई। प्रवीण ने उसका हाथ पकड़कर बहुत ही नरमी से कहा—"बहू, क्या भगवती को बुलाऊँ?"

अब की बार बहू ने मानो कुछ जाना। उसने सचमुच प्रवीण को पहचान लिया। वह डरकर एक बार काँप उठी। उसकी आँखें फट गईं, और होंठों से भी कुछ अस्फुट शब्द निकलकर रह गए। प्रवीण की आँखों से आँसू बह निकले।

उन्होंने धीरज धर के थोड़ा पानी उठाकर बहू के मुख में डाल दिया।

अब की बार बहू ने उन्हें अच्छी तरह पहचानकर टूटे स्वर में कहा—"हाय! तुम फिर यहाँ?"

प्रवीण ने कहा—"बहू! जरा धीरज धरो, बहुत बुरा हो गया था। जरा दिल को थाँभो। भगवान् ने तुम्हें प्राण-दान दिया है। इतना कहकर, प्रवीण फूट-फूटकर रोने लगे। इसका असर शायद अच्छा हुआ।

बहू ने कुछ चैतन्य होकर कहा—"मैं कहाँ हूँ?" इसके साथ ही उसे अपने गत रात्रि के जीवन और अंतिम कार्य का कुछ-कुछ स्मरण हुआ। उसने घबराकर कहा—"और मेरा बच्चा? प्रमोद?" इसके साथ ही उसने चारो तरफ़ देखना शुरू किया।

प्रवीण ने रोते-रोते बच्चे को लाकर बहू की गोद में दे दिया। वह गहरी नींद में सो रहा था। बहू ने उसे छाती से लगा लिया। अब वह भी रोने लगी।

प्रवीण उसके पास खड़े ही रहे। वह स्वयं इतना रो रहे थे कि कुछ भी बोलने की उनमें शक्ति नहीं थी। अब वह उसके पास आ, बच्चे पर हाथ फेरते-फेरते बोले—"रोओ मत बहू! प्रमोद अब बहुत अच्छा है। क्या भगवती को बुलाऊँ?"

बहू ने भरे हुए नेत्रों से प्रवीण को देखा, और विषाद-भरे स्वर में कहा—"आखिर तुमने मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया।"

प्रवीण ने होठ काटकर कठिनता से रोना रोककर कहा—"हाँ बहू ! तुम मुझे शाप दो। मैं कायर आत्मघात तो कर सकता नहीं। तुम मुझे शाप दो। दुखी आत्मा का शाप अवश्य फलेगा। मुझे मारो मत। मरने में दो-चार मिनट का कष्ट भोगकर मेरा प्रायश्चित्त न होगा। मेरे अंगों में कोढ़ चूने दो, और मेरे शरीर में कीड़े पड़ने दो। बहू, एक बार क्रोध में आकर ऐसा कह तो दो।" बहू कुछ देर चुप रही। फिर उसने कहा—"क्या यह अस्पताल है ?"

"हां।"

"तुमने मुझे क्यों बचाया ? अब इस शरीर को कहां रक्खूँगी। मैं तो ठीक रास्ते पर थी।"

"पर प्रमोद को मा की छाती कहां मिलती बहू ?"

बहू ने कांपते-काँपते कहा—"मैं तो उसे भी साथ ले जा रही थी।" इतना कहकर वह बच्चे को ज़ोर से छाती से लगाकर फूट-फूटकर रोने लगी। प्रवीण भी बैठकर रोने लगे।

कुछ देर रोकर प्रवीण ने कहा—"बहू ! क्या भगवती को बुलाऊँ ?"

बहू ने कुछ तीव्रता से कहा—"तुम उन्हें मुँह दिखा सकते हो ?"

प्रवीण लजा गए। बहुत ही लजा गए। बहू ने सोचा, बहुत ही कड़ी बात कह दी है। उसने फिर कहा—"और मैं

ही क्या किसी को मुँह दिखाने योग्य हूँ ? जब इतना हो चुका था, तो तुमने मेरे मार्ग में क्यों बाधा डाली ? स्त्रियाँ तो मिट्टी की हाँड़ी होती हैं। एक बार जब पाखाने में पहुँच चुकीं, तब रसोई के योग्य नहीं रहतीं। उसका फूटना ही ठीक था।" प्रवीण ने कहा—"शायद तुम्हारी बात ही ठीक है। पर बहू ! मैं वह देख न सका। तुम्हें शायद देख सकना पर बच्चे को !" इतना कहते-कहते उनका कंठ रुंध आया। वह आगे कह न सके। पर कुछ ठहरकर उन्होंने कहा—"तुम सचमुच वीर निकलीं बहू ! मैं कायर स्वयं भी न जा सका, और तुम्हें भी पीछे खींच लिया।"

कुछ ठहरकर बहू ने कहा—"अब क्या होगा ?"

प्रवीण बोले—"मेरे पास शरीर है, और प्राण है। ये मैंने तुम्हें दिए बहू ! अपवित्र प्यास से पागल होकर मैंने तुम्हारी आबरू और सुख नष्ट किया। इस भयंकर नाश के साथ ही वह प्यास मिट गई है। तुम मेरी बहन और पुत्री के समान हुईं। मैं पिता और भाई के समान यत्न से तुम्हारी रक्षा करूँगा, और तुम अपने तन-मन से इस बच्चे की रक्षा करो।"

बहू कुछ देर चुप रही। फिर उसने कहा—"मेरी इच्छा किसी को मुँह दिखाने की नहीं है। तुम मुझे कहीं एकांत गाँव में रख आओ, और रक्षा का प्रबंध करके मेरे और मेरे बच्चे के खाने का कुछ प्रबंध कर दो। हम लोग बहुत ही थोड़े में गुजर कर लेंगे। पीछे जब मेरा बच्चा बड़ा होकर

कमा सकेगा, तो तुम्हारे ऊपर का बोझ हट जायगा। हमसे बनेगा, तो तुम्हारा ऋण भी चुका देंगे।"

प्रवीण रोने लगे। क्रमशः उनका रोना बढ़ने लगा। वह हिलकियाँ लेने लगे। बहू ने कहा—"तो क्या यह असंभव है? तुम हमारे लिये इतना नहीं कर सकते?" इतना कहते-कहते बहू की भृकुटी में बल पड़ गए।

प्रवीण ने कहा—"इसके सिवा जो बनेगा, वह भी करूँगा, पर बहू! तुम मुझे अब रुलाओ मत।"

बहू ने कहा—"तो अब तुम रोते क्यों हो?"

प्रवीण ने हाथ जोड़कर कहा—"मेरा अविश्वास मत करो।"

बहू ने कहा—"कैसा अविश्वास?"

प्रवीण कातर कंठ से बोले—"तो क्या तुम समर्थ होने पर मेरा ऋण चुकाने की इच्छा करती हो?"

बहू चुप रही।

प्रवीण ने बहू का पैर छूकर कहा—"तो तुम इस बात पर विश्वास नहीं करती कि मैं तुम्हें अपनी सगी बहन और बेटी समझता हूँ?"

बहू ने अपना पैर खींच लिया, पर वह कुछ बोली नहीं।

प्रवीण देर तक रोते और आशा-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे।

बहू नीची दृष्टि किए बैठी रही।

अब प्रवीण झुँझला उठे। उन्होंने क्रोध से होठ काटकर कहा—

"तब मैं तुम्हारी सहायता नहीं करूँगा। जहाँ जी चाहे, तुम मरो, और जहाँ जी चाहेगा, मैं मरूँगा।" इतना कहकर वह उठ खड़े हुए।

रोने और प्रार्थना करने का जो प्रभाव नहीं हुआ था, वह क्रोध का हुआ। उससे बहू के मुँह का कठोर भाव एकदम उड़ गया। उसने करुण दृष्टि ऊपर को उठाकर रो दिया। एक क्षण प्रवीण उद्विग्न-से उसकी तरफ़ देखते रहे। बहू ने काँपते-काँपते कहा—"मुझे तुम्हारा विश्वास है।" इसके बाद ही वह अपनी शय्या पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी। प्रवीण ने उसके पैरों को माथे से लगाकर कहा—"बहन के इन चरणों के लिये अपना सर्वस्व समर्पण है।

तीसवाँ परिच्छेद

बारह-एक बजे तक घर में न आना तो एक साधारण बात थी। इतने समय तक तो सुखदा ध्यान बाँधे बैठी प्रतीक्षा करती रही, पर एक बजते ही उसका धीरज टूटा। उसने और आधी घड़ी बिताई, कई बार बाहर झाँककर भी देखा पर स्वामी के आने की कोई आहट नहीं मिली। अंत में हारकर उसने सास को जगाया। बुढ़िया भी कुछ गहरी नींद नहीं सो रही थी। उसने हिलाते ही कहा—"क्या अभी तक नहीं आया?"

सुखदा ने कुछ घबराहट और कुछ धीमे स्वर से कहा—"नहीं तो।" वृद्धा कोप से चुप हो गई। वह वैसे ही चुपचाप पड़ी रही।

कुछ ठहरकर सुखदा ने डरते-डरते कहा—"अम्माजी! दो बज गए हैं।"

वृद्धा ने झुँझलाकर कहा—"तो मैं क्या करूँ? तू जाकर सो रह, मेरा सिर क्यों खाती है?"

सुखदा बिना कुछ कहे अपनी कोठरी में चली आई, और बड़ी घबराहट से वह बार-बार द्वार की आहट लेने लगी। वृद्धा की नींद भी उचट गई। उसने बहू के पास आकर कहा—"क्या नहीं आया?"

सुखदा ने उदास दृष्टि से सास को देखते हुए कहा—"न।"
वृद्धा ने व्यग्रता से कहा—"तो अब तक रहा कहां ?"

बहू ने कहा—"भगवती के घर न हों ?"

वृद्धा ने कहा—"तो मैं जाकर देखूँ। तू दरवाजा अच्छी तरह बंद करके बैठ।" इतना कहकर, वह चादर ओढ़ चल दी।

सुखदा ने बाधा देकर कहा—"अम्माजी, आधी रात अँधेरी में तुम कहां जाओगी ?"

बूढ़ी ने कुछ ठमककर कहा—"तो और किसे भेजूँ ? मुझे क्या बाघ खाए जाते हैं ?" सुखदा ने बुढ़िया को रोककर कहा—"अम्माजी ! दो बज गया है। यदि वह वहीं हुए, तो कुछ डर नहीं है, और वहाँ न हुए, तो इस समय वहाँ जाना फ़िज़ूल है। जहां भी होंगे, सो रहे होंगे।" इतना कहते-कहते सुखदा के मुख पर कुछ स्याही दौड़ गई, पर उस अँधेरे में उसे देखनेवाला कौन था ?

वृद्धा ने किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर पूछा—"तो अब क्या करूँ ?"

सुखदा ने तसल्ली से कहा—"जाकर सो रहो। सबेरे जो कुछ होगा, देखा जायगा; दो घंटे की ही तो बात है।"

बुढ़िया ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह चादर एक ओर फेंककर वहीं पड़ रही। अपनी कोठरी में नहीं गई।

दोनो यद्यपि पास-पास पड़ी थीं, और दोनो ही जाग रही थीं, पर परस्पर बात नहीं करती थीं। कभी-कभी वृद्धा धमककर

पूछ-भर लेती थी कि आया क्या ? दो घंटे बीत गए। धीरे-धीरे सुबह की सफ़ेदी आसमान पर छा गई। ठंडी हवा बहने लगी। बेचारी सास-बहू रात-भर नींद के झोंके खाकर इस समय न जाग सकीं। दोनो को गहरी नींद आ गई।

जब सुखदा की एकाएक आंख खुली तो वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसने देखा, खामी धूप चढ़ आई है। अब उसने बुढ़िया को हिलाकर जगाना शुरू किया।

बुढ़िया ने उठते ही कहा "क्या वह आया ?"

सुखदा ने कहा—"नहीं, अब तुम ज़रा उधर हो आओ।"

वृद्धा उठी, और सीढ़ी उतरकर नीचे चली गई। सुखदा अकेली घर में बैठी रही। प्रातःकाल की संजीवनी वायु चल रही थी। पर सुखदा को उससे कुछ भी स्फूर्ति नहीं मिली। कोई अज्ञात वेदना अस्फुट रूप से उसके मन को मथ रही थी। वह रह-रहकर सोच रही थी, आज तक तो ऐसा हुआ नहीं था। तब वह आज रहे किधर ? हे परमेश्वर ! वह सकुशल तो हैं। इतना कहकर उसने अपना आँचल पसारकर उस संसार के स्वामी के दरबार में स्वामी के कल्याण की भिक्षा माँगी। उसने सच्चे भाव से कहा—"हे प्रभु ! हे नाथ ! मैं अभी मर जाऊँ, पर स्वामी का बाल भी बाँका न हो।"

सीढ़ियों में किसी के चढ़ने का शब्द हुआ। सुखदा ने खड़ी होकर देखा, सास है। साथ में कोई नहीं है, और भी देखा, बुढ़िया आकर हाँफती-हाँफती द्वार में ही गिर पड़ी, मानो

उसका सत निकल गया हो। सुखदा के कलेजे में धक्-से हुआ। उसने कहा—"क्या वहाँ नहीं थे ?"

बुढ़िया ने पथराई आँखों से कहा—"वहाँ तो ताला लगा हुआ है।"

सुखदा को मानो बिच्छू ने काट खाया। एकाएक जोर से चीख की तरह उसके मुख से निकल पड़ा—"ताला ?"

बुढ़िया चुपचाप हाँफने लगी। सुखदा रोई नहीं। वह दुःख में कभी नहीं रोती थी, वह रोती थी अपमान या सुख पाकर, और दुःख पाकर वह वीर योद्धा की तरह कठोर हो जाती थी। उसने सास के पास आकर कहा—"तो बहू भी वहाँ नहीं है ?"

वृद्धा ने कहा—"कोई नहीं है। कल तो सब थे। रात ही को कहीं गए हैं।"

सुखदा सोचने लगी, सब कहाँ गए। परंतु उसकी घबराहट कुछ कम हुई। उसने कहा—"अम्माजी! चिंता क्या है? जब वे सभी कहीं गए हैं, तो कोई काम आ पड़ा होगा।" बुढ़िया बोली—"पर कहकर तो जाना चाहिए था ?" सुखदा के मन में भी यही कसक थी, पर उसने मन की बात छिपाकर कुछ लापरवाही के ढंग से कहा—"उन्हें किस की फिकर थी, जो कह जाते! कह जाते, तो रात-भर जागना तो न पड़ता। चलो, उठो, अब हाथ-मुँह धोकर निबटो।" दोनो सास-बहू धंधे से लगीं। सचमुच उनकी चिंता बहुत ही कम हो गई थी।

इकतीसवाँ परिच्छेद

सास-बहू दोनो बहुत ही चेष्टा करके बेफ़िक्र बनना चाहती थीं। रोज़ के नियम से विरुद्ध अकारण ही एक दूसरी से बात-चीत में मन बहलाया चाहती थीं, पर न-जाने क्यों उनका जी ठिकाने न बैठता था। वे दोनो यद्यपि यह सोचकर कि तीनो कहीं गए हैं, कुछ ढाढ़स मन में बाँध लेते थे, किंतु कोई उनके कान में बार-बार कहता था, आखिर वे गए, तो कहाँ गए ? दोनो ही के दिल में यही भावना थी। बार-बार दोनो के दिल में परस्पर पूछने की इच्छा होती कि आखिर वे गए कहाँ ? पर दोनो यह सोचकर कि पूछने से रंज फिर होगा, मन की बात मन ही में रखती थीं। पर जिस दुःख से वे दोनो एक दूसरी को बचाने की चेष्टा करती थीं, उसी में दोनो पूरी तरह डूब रही थीं। भोजन करने की किसी को इच्छा नहीं थी। पर न खाने से दूसरी को चिंता और कष्ट होगा, इसी खयाल से दोनो ने एक दूसरे को दिखाकर उस दिन भोजन किया।

दिन ढल गया था। दोनो सास-बहू आँगन में बैठी हुई यों ही फालतू-सा काम करके समय काट रही थीं। एकाएक धम-धम किसी के सीढ़ी चढ़ने की आवाज़ उनके कान में आई। बुढ़िया

कुछ ऊँचे स्वर में बोली—"लो, वह आया।" सुखदा ने सिर उठाकर देखा। इतने ही में द्वार में एक धक्का लगा। सुखदा ने उठकर द्वार खोल दिया। द्वार खुलते ही उसने आश्चर्य से देखा, वह प्रवीण नहीं, भगवती है, और भी आश्चर्य तथा शंका से उसने देखा कि भगवती का जैसा आज का रूप है, वैसा कभी नहीं देखा था। उनके बदन पर सिर्फ एक क़मीज़ थी, जिसके बटन खुले हुए और अस्त-व्यस्त थे, सिर नंगा था, और बालों में धूल भर रही थी। वे चारों तरफ़ छितरा रहे थे। उसके गले की नसें फूल रही थीं, और सांस के साथ छाती उठती-बैठती प्रत्यक्ष देख पड़ती थी। मुँह सुर्ख़ हो रहा था, और आँखें आग उगल रही थीं। वह दुर्धर्ष बैल की तरह साँस ले रहा था। साँस के साथ उसके नथने बेतरह फूल जाते थे। पैरों में जूता नहीं था, उँगलियों में कीचड़ भर रही थी। ऐसे वेष में एका-एक भगवती को सामने देख सुखदा डरकर पीछे हट गई।

बुढ़िया ने वहीं से पूछा—"कौन है?"

भगवती एक क़दम आगे बढ़ा। उसने न सुखदा को प्रणाम किया, न सदा की तरह मुस्किराया, वरन् वह उसकी तरफ़ से हाथ-मुँह फेर बूढ़ी की तरफ़ को चला। बुढ़िया एकाएक उसका यह रंग देखकर घबरा गई।

भगवती ने कठोर स्वर में कहा—"बता, कहाँ है तेरा पूत?" बड़ी ही कठिनता से बुढ़िया के मुख से शब्द निकला। उसने कहा—"क्या?"

का प्राण-नाश करो। मैं उसकी स्त्री हूँ।" इतना कहकर वह गर्व से गर्दन तानकर और भी मज़बूती से खड़ी हो गई।

भगवती ने घबराकर कहा—"मैं क्या हत्यारा हूँ ?"

"दंड के लिये प्राण-नाश करना हत्या नहीं है।"

"तुमने क्या अपराध किया है ?"

"स्त्री पति का आधा अंग है। पति के पाप-पुण्य सबमें उसका आधा हिस्सा है। आधा दंड मुझे दो। मेरा प्राण-नाश करो। फिर जहाँ वह मिलें, तुरंत मार डालना। मैं नहीं चाहती कि दुनिया मेरे पति को लंपट के रूप में देखे।"

भगवती ने फिर क्रोध में भरकर कहा—"मैं उसी को मारूँगा। उसी ने मेरा नाश किया है। तुमसे मेरा कुछ वास्ता नहीं है।"

सुखदा बोली—"तो तुम पूरा-पूरा दंड मुझी को देना चाहते हो ? अन्यायी !"

"कैसे ?"

"तुम मुझे न मारकर मेरी चूड़ियों को चूर करना चाहते हो। मरनेवाला चार मिनट कष्ट भोगकर मर जायगा, पर जीनेवाला कैसे दिन काटेगा ? इन चूड़ियों के बिना जीने से क्या सभी दंड मुझे ही न भोगना पड़ेगा, और मारनेवाला क्या दुख से छुट्टी न पा लेगा ?"

भगवती चुपचाप पागल की तरह खड़ा सुखदा का गंभीर मुख देखता रहा।

सुखदा ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा—"तुम क्रोधांध हो। तुम बदला चाहते हो? तब मैं तुमसे न्याय नहीं चाहती। जाओ, अपने शत्रु से मनमाना बदला लो।"

इतना कहकर उसने झटके से किवाड़ खोल दिए, और गर्व से अपनी पूरी ऊँचाई में तनकर खड़ी होकर, उसने उँगली से बताकर कहा—"जाओ।"

भगवती का सिर घूमने लगा। वह कुछ भी न बोल सका। उस पर कुछ सुखदा का भय-सा छा गया। वह उसकी ओर देखते-देखते धीरे-धीरे सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

उसके उतरते ही सुखदा ने जोर से किवाड़ बंद कर लिए, और तब वह एक हाय मारकर धड़ाम से धरती में गिर पड़ी। वह धरती तत्काल उसके खून से लाल हो गई।

वर्त्तामवाँ परिच्छेद

भगवती के जाने के दो घंटे पीछे ही सुखदा को एक पत्र मिला। वह उसी शहर के स्टेशन पर से डाला गया था। सुखदा ने पहचान लिया कि वह प्रवीण के हस्ताक्षर हैं। सुखदा ने धड़कते हृदय से उसे खोल लिया। उसमें लिखा था—"माता !

जब मैं अपने आचरण से आपको संतप्त कर रहा हूँ, तब शिष्टाचार और प्रणाम लिखना व्यर्थ है।

मुझे इस बात का बड़ा ही खेद है कि अब तक थोड़ा-बहुत जो आप लोगों को मेरा आसरा था भी, अब वह भी न रहेगा। क्योंकि मेरे ऊपर इस समय एक ऐसी सुशीला स्त्री और पवित्र बच्चे की रक्षा का भार है, जो मेरी ही मूर्खता और अविचार के कारण घोर रूप से तिरस्कृत और कलंकित किए गए हैं। ये स्त्री-बच्चे मेरे अभागे मित्र भगवती के हैं।

बच्चा मेरा जीवन-प्राण है, और यह स्त्री मेरी आदर की बहन है। इनकी इच्छा किसी से मिलने की नहीं है, इसलिये इनकी जहाँ, जैसे निर्जन स्थान में, जिस तरह, रहने की इच्छा होगी, वैसे ही रक्खूँगा, और जीते-जी इन्हें कष्ट न होने दूँगा।

माता ! यह सच है कि आप लोग निराश्रय और अकेले

रह गई हैं, और मुझे देख भी न सकेंगी। किंतु आपको यह विचारकर मन में सुख मान लेना चाहिए कि आपका बच्चा एक पुण्य कार्य में लग गया है, या उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कर रहा है।

यह याद करके मेरा कलेजा बैठा जा रहा है कि अब आप लोगों के लिये कुछ भी न कर सकूँगा। पत्र भी न लिख सकूँगा। मिल भी न सकूँगा। मेरी इच्छा किसी को मुँह दिखाने की नहीं है। क्योंकि एक तो मैं बड़ा निंदनीय काम कर चुका हूँ। दूसरे, अब भी हमारा काम और जीवन का ढंग ऐसा है, जिसके लिये सफ़ाई दरकार है। पर हममें से कोई सफ़ाई देने को तैयार नहीं है। हम लोग स्वच्छ, निर्द्वंद्व, संतुष्ट और निस्संकोच हैं, और जीवन-भर रहेंगे।

तुम लोग या भगवती हमें ढूँढ़ने की चेष्टा करके भी पा नहीं सकोगे। मैंने एक तीव्र विप लेकर रख लिया है। वह सदा मेरे पास रहेगा। तुम लोगों में से कोई भी यदि हमें पा लेगा, तो उसे देखते ही मैं विष खा लूँगा। इस बात को सत्य समझना।

माता ! समय-समय पर मुझे आशीर्वाद देती रहना।

आपका पुत्र—

प्रवीण"

पत्र पढ़कर सुखदा की छाती फूल गई। उसकी आँखें चमकने लगीं, और उनमें से अविरल अश्रु-धारा निकलने लगी। वृद्धा ने निकट आकर कहा—"क्या है ?"

सुखदा ने चिट्ठी उसके आगे फेंक दी। वृद्धा बोली—"किसकी है?" सुखदा ने गर्व से तनकर कहा—"उन्हीं की।"

वृद्धा ने आँखें फाड़कर कहा—"प्रवीण की?"

सुखदा ने रोते-रोते कहा—"हाँ।"

बुढ़िया ने दुखी स्वर से कहा—"तो यह सच है?"

सुखदा ने तीव्र स्वर में कहा—"नहीं अम्माजी! वह ऐसे नहीं हैं।"

अब बुढ़िया उठकर बैठ गई। उसने कहा "चिट्ठी पढ़कर सुना तो।" यह काम बहुत कठिन था। पर कोई चारा नहीं था। सुखदा ने कड़ा जी करके चिट्ठी पढ़कर सुना दी।

अब बुढ़िया की आँखें चमकने लगीं। उसने कहा—"मेरे पूत के लोगों ने झूठे ही नाम धरे?" सुखदा कुछ न बोली। उसकी लाज और कष्ट तथा उदासी न-जाने कहाँ उड़ गई थी। उसने चिट्ठी हाथ में लेकर कहा—"मैं अभी जाती हूँ।"

वृद्धा ने अकचकाकर पूछा—"कहाँ?"

सुखदा ने क्रोध से फुफकारते हुए कहा—"वहीं, उसी पापी के घर, जो आपे से बाहर होकर जो जी में आता है, बकता फिरता है।"

बुढ़िया चादर सँभालकर बोली—"ला, मुझे दे, मैं जाऊँ।"

सुखदा बोली—"नहीं, यह मेरा काम है।" इतना कहकर सुखदा चल खड़ी हुई। आज से प्रथम उसे इतना तेज, तत्पर

और साहसी किसी ने नहीं देखा था। पतिव्रता सुखदा, जो अभी-अभी पति के ऊपर घोरतर अभिशाप सुनकर मर्माहत सर्पिणी की तरह बल खा रही थी, उसे अब एकाएक पति के निर्दोषत्व का प्रमाण मिल गया है। अब उसे कौन पा सकता है ? आज उसके बराबर कौन है ? आज पहली ही बार उसके मुख पर क्रोध, घमंड और तीव्रता की झलक दिखाई दी है। सुखदा फुरती से, सीधी तीर की तरह, भगवती के घर की तरफ़ चली। उसके हाथ में वही एक चिट्ठी थी।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

पागलों की तरह लड़खड़ाता हुआ भगवती बड़ी ही कठिनता से अपने घर पहुँचा। उस समय न उसके क्रोध का पता लगता था, न दुःख का। वह वास्तव में झुँझला रहा था। सुखदा की बातों का उस पर बहुत ही प्रभाव पड़ा था। वह घर में आकर एक तरफ़ पड़ गया। घर सूना था। कोई उसको पूछनेवाला न था। जन्म-भर में भगवती को रंज नहीं हुआ था, आज एकाएक उसे इस दशा में पहुँचना पड़ा। बहू के साथ ज़रा एकांत-केलि करने को तो उसने माता को पड़ोसियों के साथ गंगा-स्नान करने विदा किया था, पर हाय! कहाँ गई उसकी वह एकांत-केलि? बहू के साथ तो किसी और ने ही एकांत-केलि की! फिर वह सोचने लगा, इतना होने पर भी क्या वह मरी नहीं अब भी? इतना होने पर भी उसके जी में उसी गंदे सुख भोगने की लालसा बनी रही? मोरी की सड़ी गंदगी में एक बार वस्तु गिर जाने पर भी किसी को उसे उठाकर खाने की रुचि रहती है? तब क्या बहू सर्वथा निर्लज्ज और भ्रष्ट थी? यह तो असंभव है। इतने दिन में क्या मैंने उसे इतना भी नहीं पहचाना? मैं क्या इतना मूर्ख था, और वही क्या इतनी चतुर थी? इसी

उमर में वह इतनी बात छिपानेवाली नहीं हो सकती ? इतना सोचने के बाद वह बहू के स्नेह-मुख और सेवा को मानो प्रत्यक्ष देखने लगा। उसके बाद वह बोला—"हाय ! कहाँ गई वह ? क्या प्रवीण कहीं अन्यत्र गया है, और वह कहीं डूब मरी है ? या दोनो मर गए हैं ? पर कहीं सुराग तो लगता ? तब क्या वह भ्रष्ट थी ? यह तो असंभव है। तो जो कुछ आँखों से देखा, उस पर कैसे अविश्वास किया जा सकता है ? जिसे मैंने समस्त आदर-प्यार दिया, वही मेरे सर्वनाश को तत्पर हुआ ? क्या मैंने अपने ही शयनागार में अपनी ही स्त्री के पैरों में बैठे हुए अपनी ही स्त्री के हाथ चूमते उसे नहीं देखा है ? कोई यह बात कहता, तो मैं उसका सिर कुचल डालता, पर यह तो स्वयं आँखों देखी घटना है। क्या इन आँखों को भी फोड़ लूँ ? हाय ! प्रवीण, तूने यह क्या किया ?" इतना सोचते-सोचते वह एक बार फूट-फूटकर रो उठा।

कुछ देर रो लेने पर वह विचार-सागर में फिर डूबने उतराने लगा। वह सोचने लगा, अच्छा, तब रात वह यहाँ आया क्यों था ? अब वे गए, तो कहाँ गए ? क्या दोनो मर गए या भाग गए हैं ? यदि भाग ही गए हैं, तो क्या पहले से ही तैयारी हो गई थी ? अब भगवती को ऐसा विश्वास हो गया कि उसकी पापिष्ठा स्त्री और विश्वासघाती मित्र में उस समय भागने की ही साँठ-गाँठ हो रही थी। प्रतिहिंसा की ज्वाला फिर उसके नेत्रों में रँग गई। वह बोला—"वे जहाँ भी होंगे, खोदकर, निकाल

लूँगा, और फिर खोदकर ही गाड़ दूँगा।" इस ओर वह बीच की सुखदा को भूल गया। उसने विचारा, जब सब तैयारी प्रथम ही से थी, और सब मामला तैयार था, तो कहाँ जायँगे, यह भी निश्चय हो गया होगा। अब मानो उसे कुछ आसरा मिला। उसे विश्वास हुआ, उस कमरे में अवश्य कुछ-न-कुछ खोज मिलेगा। वह अधिक समय नष्ट न कर झपटते हुए उसी कमरे में आया।

प्रतिहिंसा की आग धक्-धक् उसके कलेजे में जल रही थी, और वह मामला खोज निकालने को व्यग्र हो रहा था। ऐसा न होता, तो वह उस कमरे में घुसने का साहस न करता। क्योंकि वहाँ जब कि कुछ अतिशय मधुर चिह्न उपस्थित थे, तब कुछ नितांत कटु, वरन् असह्य चिह्न भी थे। पर इस समय हृदय और उसका संसार न-जाने कहाँ सो गया था। इस समय तो मस्तक की विचार-कल्पना के वशीभूत हो वह किसी खुफ़िया पुलीस की तरह बड़ी बारीकी से उस कमरे की प्रत्येक वस्तु को देखने लगा, और षड्यंत्रकारियों की गति-विधि को भेदन करने का सूत्र पाने में तन्मय हो गया।

भगवती सदा से मूर्ख था। इस बात पर जिन्हें विश्वास नहीं आता था, वे आज की सतर्कता और बुद्धिमानी देखकर उसे मूर्ख कह सकते हैं। वह एक-एक करके बक्स, संदूक़ आलमारी खोल-खोलकर उसका सामान छितराने लगा। किताबों के पन्ने उलट-पलटकर फेकने लगा। पर खेद की

बात है कि उसे ऐसी कोई वस्तु न मिली, जिसे पाकर वह [illegible] पाता। अब थककर वह एक कुर्सी पर बैठकर सोचने लगा। एकाएक उसकी दृष्टि मेज पर पड़े एक कागज पर पड़ी। पास जाकर देखा, तो एक चिट्ठी थी। वह तोड़ी-मोड़ी और खराब की हुई थी। भगवती को ध्यान आया, उस समय बहू के हाथ में एक चिट्ठी थी, जिसे वह प्रवीण को दे रही थी। भगवती उस समय झोंक में उस चिट्ठी और उन शब्दों को बिलकुल भूल गया था। पर अब वह उसको अच्छी तरह याद आ गया। उसने लपककर चिट्ठी उठा ली, और पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते उसकी आँखें फटने लगीं, और हाथ काँपने लगे। वह पूरी चिट्ठी समाप्त भी नहीं कर पाया कि चिट्ठी उसके हाथ से छूट गई, और वह हाय कहकर तथा एक दुहत्था छाती में मारकर, धरती में गिरकर, फूट-फूटकर रोने लगा।

रोते-ही-रोते उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई छाया उसकी तरफ़ बढ़ रही है, जरा सिर उठाकर देखा, तो उसे भ्रम हुआ कि बहू है। वह बैठकर व्यग्रता से उसकी ओर देखने लगा, पर अंत में देखा, वह सुखदा है। भगवती ने देखा, उसके मुख पर कठोरता, आँखों में क्रोध और चाल में गर्व है। भगवती दोनो हाथ फैलाकर "भाभी ! भाभी !" पुकार-कर रोने लगा।

सुखदा कुछ बोली नहीं, वह स्तब्ध पत्थर की मूर्ति की तरह

खड़ी रही। भगवती व्याकुलता से मुँह छिपाए रोता रहा। सुखदा ने कहा—"एक जरूरी वस्तु दिखाने आई हूँ। उसे देख लो, मैं चली जाऊँगी; तुम बैठ रोया करना।"

भगवती ने मुँह ऊपर उठाकर देखा, देखने ही में प्रश्न था। सुखदा ने दूर ही से चिट्ठी भगवती के आगे फेंक दी। भगवती चिट्ठी पढ़ने लगा। सुखदा विजेता प्रतिहिंसक की तरह चुपचाप उसकी विकलता देखती रही। चिट्ठी पढ़कर भगवती ने कहा—"भाभी! मुझे क्षमा करो। मेरी रक्षा करो। बुरा किया। बहू के साथ बुरा किया।" सुखदा ने जरा तीव्र स्वर से कहा—"और अपने मित्र के साथ?"

भगवती ने कुछ क्षोभ के स्वर में कहा—"भाभी! भैया निरपराध नहीं हैं। बहू सर्वथा निरपराध थी।"

सुखदा कठोर दृष्टि से भगवती की ओर देखने लगी। भगवती ने दुःख के स्वर में कहा—"लो देखो, यह चिट्ठी देखो।"

सुखदा ने वह चिट्ठी ले ली, और पढ़ने लगी। उसमें लिखा था—

"मान्यवर!

अपनी मर्यादा छोड़कर मैं आपको लिखती हूँ। आप मेरे स्वामी के बड़े भाई और मेरे ज्येष्ठ तथा पूज्य हैं। आपको कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे आपके गौरव को बट्टा लगे, और असहाय अबला की इज्जत

की ओर उँगली उठे। प्रारब्ध पर संतोष करना चाहिए, और भगवान् की देन में खुश रहना चाहिए। मेरी आपसे हाथ जोड़कर यह विनती है कि आप हमारे घर आना बंद कर दें। क्योंकि आप जिस तरह मेरी ओर देखा करते हैं, उसे देखकर मुझे डर और लाज आती है, और घर के लोग नाराज़ होते हैं।

आपकी—

बहू"

चिट्ठी पढ़कर सुखदा की आँखों में अँधेरा छा गया। वह खड़ी-खड़ी ननदी की तरफ़ शून्य दृष्टि से देखती रही। भगवती ने धीरे-धीरे खड़े होकर कहा—"भाभी! भैया को पश्चात्ताप हुआ है। मैं उनसे नाराज़ नहीं हूँ। बताओ, उन्हें ढूँढ़ूँ कहाँ?"

सुखदा ने मान से कहा—'तुम अपने अपराधी से राजी हो या नाराज़? मुझे इससे क्या? मैं तुम्हें चिट्ठी दिखाने आई थी। मेरी चिट्ठी मुझे दो, अपनी तुम रक्खो। मैं जाती हूँ।"

इतना कहकर उसने भगवती के हाथ से चिट्ठी ले ली, और अपनी चिट्ठी फेंककर चल दी।

भगवती ने द्वार रोककर कहा—"भाभी! मैं बड़े दुःख में हूँ। मुझसे नाराज़ मत हो। पहले भैया मुझे मार्ग बताते थे, अब तुम बताओ। मैं तो महामूर्ख हूँ। मुझे कुछ भी तो ज्ञान नहीं है।" सुखदा चुपचाप खड़ी रही।

भगवती ने उसके पैरों में गिरकर कहा—"भाभी, हम-तुम एक ही दशा में हैं। आओ, अपना-अपना दुःख बाँटकर हल्का करें। एक-एक आदमी हम दोनो का खो गया है। उसे कैसे पावें ? भाभी ! मार्ग बताओ।"

सुखदा की आँखों में एक बूँद आँसू आकर ढरक गया। उसने कहा—"चलो, हम लोग उन्हें ढूँढ़ लावें। पृथ्वी पर कहीं तो वे होंगे ?"

भगवती कुछ उत्तर न दे पाया था। पीछे से द्वार खुला। उधर से एक आवाज़ आई—"अरे बावलिया, क्या कर रहा है ?" दोनो ने चौंककर पीछे फिरकर देखा, वह भगवती की माता है। उसके सारे अंग पर गंगा-रज लगी हुई है। राम-नामी ओढ़े है। बगल में पोटली है। हाथ में माला है, और वह हँसते-हँसते कमरे में प्रवेश कर रही है। दोनो को काठ मार गया। पहले तो बुढ़िया ने समझा, बहू-बेटे में विनोद हो रहा है, पर भीतर घुसते ही ज्यों ही उसकी दृष्टि सुखदा पर पड़ी, त्यों ही बुढ़िया भौंचक रह गई। उसके चेहरे का रंग ही बदल गया। उसने कहा—'यह क्या ! तुम लोग किवाड़ बंद किए यहाँ क्या कर रहे थे ? और बहू कहाँ है ?"

भगवती सूख गया। सुखदा भी जड़ हो गई। बुढ़िया ने अपनी पोटली फेंककर कहा—"अरे बोल तो, बहू कहाँ है ?"

भगवती ने भर्राए कंठ से कहा—"पीहर गई।"

बुढ़िया चकित होकर बोली—"कब ?"

भगवती ने कहा—"परसों।"

"कोई आया था क्या ?"

"हाँ।"

एक क्षण बुढ़िया चुप रही। फिर तो कुछ क्रोध में बोली—"और वह यहाँ क्यों आई थी ?"

भगवती चुप ! वृद्धा डपटकर बोली—"बोल रे !"

भगवती नीची निगाह किए खड़ा रहा।

अब वृद्धा क्रोध में लाल होकर सुखदा की तरफ़ घूमी, पर उसने देखा, सुखदा वहाँ नहीं है। वह सुयोग पाकर खिसक गई थी। फाटक से बाहर होते उसकी एक झलक वृद्धा ने देख ली। वृद्धा आपे से बाहर होकर बोली—"मेरे पूत के ये लच्छन तो मुझे मालूम भी नहीं थे।" इतना कहकर वह वहीं धरती पर बैठकर साँप की तरह फुफकारने लगी।

भगवती से न रहा गया। उसने कहा—"मा ! ऐसा मत कहो। भाभी मेरी माता के ही समान हैं। मा ! मेरा सर्वनाश हो गया है। सब सुनने के लिये पत्थर की छाती कर लो।" इतना कहकर वह मा की गोद में गिरकर बालक की तरह रोने लगा।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

इस बार प्रबल कर्मठ और वीरांगना सुखदा भी परास्त हुई। उसने इरादा किया, घर पहुँचने से प्रथम ही मर जाना चाहिए। छिः ! बुढ़िया के सामने वह घोर लांछना ! हरे राम-राम ! बुढ़िया के शब्द उसके कलेजे में कसक रहे थे। उसने उत्तेजित होकर कहा—"हाय राम ! कैसे मरूँ ?" दुःख की बात है कि वह मर न सकी। मरने का उसे कोई मार्ग ही न सूझा।

घर आकर वह चुपचाप अपनी कोठरी में पड़ रही। वृद्धा ने भी उससे कुछ पूछा नहीं। दोनो चुपचाप पड़ी ही रहीं।

थोड़ी ही देर बाद उसने द्वार पर किसी के पैरों की आहट सुनी, पर सुखदा द्वार खोलने उठी नहीं। बुढ़िया ने पुकारकर कहा—"बहू ! देख तो कौन है ? द्वार खोल दे।"

सुखदा न उठी, न बोली।

अंत में बुढ़िया स्वयं द्वार खोलने चली। द्वार खोलकर देखा, सामने भगवती है। वृद्धा कुछ बोली नहीं। दो क़दम हटकर खड़ी हो गई। भगवती भीतर आया। वृद्धा ने देखा, उसके पीछे और भी कोई है। मा-बेटे दोनो आए हैं। दोनो

भीतर आकर खड़े हो गए। उनका न किसी ने स्वागत किया, न सत्कार।

बुढ़िया ने व्यग्रता से कहा—"बहू कहाँ है, बहू? क्या अभी नहीं आई?"

गृहिणी ने जवाब दिया—"क्यों? उसने तुम्हारा क्या अपराध किया है? उसका तुम लोग क्या करना चाहते हो?"

सुखदा सब सुन रही थी, अब भी उसके पास समय था। उसने झटपट धोती कड़े में बांधकर गले में अटका ली, और झूल गई। मूर्खा थी। ग़रीब को भीतर से कुंडी बंद करने का ध्यान ही न आया।

भगवती ने कहा—"अम्मा को सब बात मालूम हो गई है।" उसकी माता बोली—"मैंने बहू को बिना जाने बहुत बुरी बात कही थी। बताओ तो, मैं उससे माफ़ी तो मांग लूँ। कहीं वह क्रोध में आकर कुछ कर न बैठे, इसलिये हम मा-बेटे भागे चले आए हैं। मैं अभी-अभी गंगाजी से आ रही थी। हाय! इतने में ही सब कुछ हो गया।" गृहिणी कुछ नर्म हुई, पर उसने उदासी से इतना कहा—"वह भीतर है।"

भगवती की मा भीतर गई। पर भीतर जाकर और ही दृश्य देखा। उसने देखा, बहू फांसी पर झूल रही है। उसकी आंखें निकल आई हैं, और मुंह लाल अंगारा हो गया है। देखते ही बुढ़िया चिल्लाई—"दौड़ो दौड़ो, हाय-हाय!

दौड़ो-दौड़ो ।" दोनो ने दौड़कर देखा। भगवती ने झपटकर उसे गोद में ऊँचा उठा लिया। माता से कहा—"मा ! ऊपर की गाँठ खोल ।" गाँठ खोलकर सुखदा को खाट पर लिटा दिया। उसका प्राण नहीं निकला। बेहोश थी। उसकी सास तो यह सब देखते ही बेहोश हो गई थी। भगवती की मा के भी हाथ-पांव फूल रहे थे। भगवती अकेला ही उसके उपचार में लगा। उसने प्रथम तो उसके गले के बटन खोले। पीछे हाथों को मला। तदनंतर उसके मुख पर पानी छिड़का। थोड़ी देर में सुखदा ने आँखें खोल दीं।

भगवती ने खुशी से मा को पुकारकर कहा—"मा ! इधर आओ। भाभी होश में हैं !" बुढ़िया आगे बढ़ी, पर सुखदा ने उधर से मुख फेर लिया। बुढ़िया प्यार से उसके मुख पर हाथ फेरने और रोने लगी। बीच में एक बार उसने आदर से उसे पुकारा भी :

धीरे-धीरे सुखदा ने उधर मुँह फिराकर देखा, और क्रोध से बोली—"मैं तुम्हारे बेटे के पास उनके मित्र की एक चिट्ठी लेकर गई थी।"

बुढ़िया ने दुःख-भरे स्वर में कहा—"बेटी ! मुझे माफ़ करो। मैंने अनजान में क्या-क्या बक दिया। हाय ! मेरी लाड़ो ने फाँसी लगा ली।" इतना कहकर वह बड़े ही लाड़ से सुखदा के मुख पर हाथ फेरने लगी। सुखदा ने रो दिया। बुढ़िया ने आँसू पोंछकर कहा—"दुखिया ने जन्म से दुःख

ही-दुःख भोगे हैं। मेरी बेटी! रो मत। भगवान् सबको देखते हैं। उन्हीं का नाम लेने से ये दिन कट जायँगे। ऐसे क्या तूने रामजी के बैल मारे हैं! बारह बरस में घूरे के भी भाग जागते हैं। भगवान् कभी तुझे भी सुख देगा।"

सुखदा ने बुढ़िया की गोद में सिर छिपा लिया। खूब रोकर उसने कहा—"माजी! जीजीजी पर बड़ा ज़ुल्म हुआ है। न-जाने कहाँ कैसी हालत में होंगी। बेचारा प्रमोद ..." इससे आगे कुछ न कह सकी। सिसक-सिसककर रोने लगी। बुढ़िया भी रोई। उसने कहा—"मेरी लच्छमी बहू सदा फूल की तरह खिली रहती थी। कभी किसी ने पोरुआ भी नहीं छू पाया था। हाय! उसके भाग्य में भी ये दिन बदे थे!"

भगवती और सुखदा की सास पास ही खड़े रो रहे थे। भगवती बोला—"मा! तुम भाभी को सँभालना। मैं भैया की खोज में जाता हूँ।" सुखदा उठकर बैठ गई। उसने कहा—"मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ।

बुढ़िया ने कहा—"ना बेटी, जाना उचित नहीं है।" भगवती बोला—"चिंता मत करो। वे लोग जहाँ भी हुए, लेकर तुरंत लौटता हूँ।" सुखदा ने सापेक्ष दृष्टि से भगवती की ओर देखा। भगवती ने कहा—"भाभी, तुम्हारे चलने से अड़चनें तो बहुत हो जायँगी। मदद कुछ न मिलेगी। तुम ज़िद न करो। कृपा कर यहीं रहो।" अंत में भगवती उसी समय सफ़र को निकला। सुखदा ने इतना कहा—"जैसा कुछ हो, समाचार रोज़-रोज़

भेजते रहना।" भगवती ने कहा—"अच्छा।" वहां से निकलते ही भगवती इस सोच में पड़ा कि अब किधर चलें? तीन ही दिन में वह गंभीर, विचारशील और परिश्रमी बन गया था। मनुष्य पर जब उत्तरदायित्व सवार होता है, तो वह आप ही योग्य बन जाता है। अब से आठ दिन पहले भगवती को ऐसा काम सौंपा जाता, तो शायद वह पागल हो जाता। पर आज वही कमर कसकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हुआ है। बहुत देर तक सोचने पर भी वह कुछ निश्चय न कर सका। एक बार उसने इरादा किया कि पुलीस में इत्तिला कर आऊँ। परंतु यह विचार कुछ जँचा नहीं। फिर उसने सोचा, अख़बारों में नोटिस दूँ। यह भी ढंग कुछ पसंद नहीं आया। वह इतना सोचते-सोचते स्टेशन की ओर जा रहा था। अंत में एक बात उसके ध्यान में आई। वह सोचने लगा, वह पत्र प्रवीण ने स्टेशन पर से लिखा था। वह शाम को चार बजे वहाँ पहुँचा। अवश्य वह दोपहर के पहले लिखा गया है, और लिखकर ही वह कहीं चल दिए हैं। इतना सोचते-सोचते उसमें कुछ फ़ुर्ती आ गई। वह मन-ही-मन यह कहता हुआ तेज़ी से स्टेशन की तरफ़ चला कि देखो, दोपहर तक गाड़ी कहाँ-कहाँ जाती है।

स्टेशन पर आकर उसे पता लगा। सुबह आठ बजे एक गाड़ी पूरब जाती है। उसके बाद साढ़े बारह बजे एक गाड़ी पश्चिम और उसके बाद डेढ़ बजे दूसरी गाड़ी पश्चिम ही को

जाती है। उसने सोचा—हो-न-हो, वह उधर ही गए हैं। अब वह यह सोचने लगा, पश्चिम में भला वह कहाँ-कहाँ जा सकते हैं? कहाँ-कहाँ, कौन-कौन उसकी जान-पहचान के थे। यह सब वह याद कर गया।

एकाएक उसका ध्यान बदला। वह सोचने लगा; मेरा यह सोचना व्यर्थ है— जान-पहचान की जगह वह कभी न जायँगे। अब उसने इस बात पर भी विचार किया कि डेढ़ बजेवाली गाड़ी है एक्सप्रेस। छोटे स्टेशनों पर ठहरती नहीं, और साढ़े बारहवाली पैसेंजर है, सब जगह ठहरती है। अंत में उसने यह सिद्धांत निश्चय किया कि वह अवश्य साढ़े बारह बजे की गाड़ी से गए हैं, और वह कभी किसी बड़े शहर में न ठहरेंगे, न बड़े स्टेशन पर उतरेंगे, जिससे पकड़ने का डर हो। वह ऐसे छोटे स्टेशन पर उतर सकते हैं, जिससे कुछ दूर पर रहने योग्य कोई गाँव हो। एकांत हो। प्राकृतिक दृश्य अच्छा हो। अब वह एक बार प्रवीण की रुचि पर विचार कर गया, और फिर उसने उन छोटे-छोटे स्टेशनों की एक सूची बना ली, जिन पर एक्सप्रेस नहीं ठहरती, और उतरनेवालों को पैसेंजर से सफ़र करना पड़ता है। इसके बाद वह यह कल्पना दौड़ाने लगा कि कौन-सा गाँव स्टेशन से मील-दो-मील हटकर है, जहाँ कोई पहाड़ी, तालाब, नदियाँ और कुछ ऐसी ही प्राकृतिक वस्तुएँ हों। पर वह यह सब नहीं जान सका। अंत में उसने एक सिरे से उन

सब छोटे-छोटे स्टेशनों को देखने का इरादा कर लिया। उसने प्रारंभ के चार स्टेशन छोड़कर एक का टिकिट लिया, और तीसरे दर्जे में जा बैठा।

अपूर्व मुटमर्दी और अदम्य उत्साह से वह खोए हुए मित्र को ढूँढ़ने लगा। डब्बे में निरे किसान और छोटे दर्जे के आदमी भरे थे। भगवती तंबाकू नहीं पीता था, पर स्टेशन चलती बार उसने जेब में एक बंडल बीड़ी रख ली। गाड़ी में बैठते ही थोड़ी बीड़ी निकालकर उसने किसानों से कहा—"भाइयो! जिसे तमाखू पीना हो, वह पिए।" इतना कहकर बीड़ियाँ सामने तख्ते पर डाल दीं। सबका ध्यान उधर गया। दो-चार ने बीड़ियाँ उठाकर मुँह में लगा लीं। कइयों ने पूछा—"बाबूजी! आप कहाँ जाओगे?"

भगवती को अपनी ग़लती मालूम हुई। उसने मन ही में कहा—"ओफ़्! अभी मैं बाबूजी बना हुआ हूँ।" पर वह मन की बात छिपाकर बोला—"मुझे पास ही जाना है।"

इसके बाद वह एक-एक कर सबसे उनके जाने का ठिकाना पूछने लगा, पीछे एक आदमी से पूछा—"भला, तुम्हारा गाँव स्टेशन से कितनी दूर होगा?"

"नजदीक ही है। कोई दो खेत का फरक है। गाड़ी स्टेशन पर आ जाय, तब भी दौड़ के बैठ जाते हैं। पर बाबू बड़ा बदमास है, टिकट नहीं देता।"

भगवती बोला—"ख़ैर, तुम्हारे गाँव में कितने आदमियों की बस्ती है ?"

"कोई पाँच सौ घर होंगे।"

"कौन-कौन लोग रहते हैं ?"

"ज्यादा बस्ती जाटों की है। बीस घर ब्राह्मणों के हैं, और बाकी दो-दो, चार-चार सब जात के हैं। एक घर सुनार का भी है।"

"तुम्हारे गाँव में कोई तालाब नहीं है ?"

"नहीं।

"कोई भले आदमी के रहने लायक़ जगह ?"

"नहीं साहब ! वह तो गँवई गांव है।"

भगवती निराशा का दुःख छिपाकर दूसरे से घुमा-फिराकर वही सवाल करने लगा। पुराने लोग उतरने और नए चढ़ने लगे। अपने स्टेशन पर भगवती भी उतरा। वह छोटा, उजाड़ और एकांत में था। भगवती को कभी इतना कष्ट, चिंता और स्वावलंबन का अवसर नहीं आया था।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

आज तीन महीने हो गए हैं। भगवती गाँव-गाँव भटकते फिरने पर भी किसी तरह प्रवीण का पता नहीं पा सका। उसे न कपड़ों की सुध थी, न शरीर की। न खाने की, न नहाने की। उसे प्रवीण की रट लगी हुई थी, और भगवान् का नाम उसकी ज़बान पर था।

हजामत उसकी बढ़ गई थी, और कपड़े बहुत ही मैले हो गए थे। लुटिया-डोर उसके कंधे पर थी, और धोती-अँगोछा बग़ल में। इसी तरह वह अद्भुत यात्रा कर रहा था।

दिए जल चुके थे, और ढोर अपने-अपने थान पर पहुँचकर जोर-शोर से सानी खा रहे थे। किसानों को रत्ती-भर फ़ुर्सत नहीं थी—वे बड़ी तत्परता से अपने पशुओं के यत्न में लगे हुए थे। कोई अपने पुत्र, भाई या चाकर को पुकारकर गाय दुहने, लवारा बाँधने, सानी करने का आदेश कर रहा था, और कोई खाने के लिये लड़ते हुए बैलों को मा-बहन की गाली दे रहा था। इसी समय एक छोटे-से स्टेशन पर उतरकर भगवती गाँव की तरफ़ चला। गाँव के किनारे एक बनिए की दूकान थी। उसकी दूकान पर चना-चबेना, गुड़-तेल, घी, मिर्च-मसाला, सब कुछ मिलने की

हाँडियों में सज रहा था। हाँडियों में रेह लगी थी। कोई कनफूटी थी। गोबर-मिट्टी के लिपे हुए टोकरों में गेहूँ-चना, जौ-बेभड़ नीचे-ऊपर सज रहा था। एक कोने में कपास पड़ी थी। आले में एक पतला दिया टिमटिमा रहा था। बनिया दुबला-पतला और पक्के रंग का था। वह एक मैली धोती पहने नंगा बैठा था। दूकान के सामने एक खाट पड़ी थी। उस पर दो-तीन किसान बैठे गपशप उड़ा रहे और गुड़गुड़ी पी रहे थे। एक छोकरी चीकट से लदी हुई छोटी-सी कुल्हिया में धेले का तेल लेने आई थी। तेल खरीदने पर घाते में चना-भर गुड़ माँग रही थी। उसी समय भगवती धीरे-धीरे चल-कर उसी दूकान के सामने जा खड़ा हुआ।

अजनबी को सामने देखकर गँवार लोग चुप हो गए। सब उसी की तरफ देखने लगे। बनिए ने कहा—"क्या चाहिए?"

अजनबी बोला—"तुम्हारी दूकान पर कुछ खाने को भी है?"

बनिया बोला—"गुड़-चना है, और सत्तू है, और तो कुछ है नहीं। तुम कहाँ रहते हो?"

भगवती ने कहा—"मैं शहर में रहता हूँ। तुम चार पैसे का गुड़-चना दो।" इतना कहकर उसने चार पैसे उसके आगे फेंक दिए। बनिए ने तराजू-बाँट सँभाले। किसानों ने खाट पर एक ओर खिसककर कहा—"यहाँ आ जाओ। खड़े क्यों हो?"

भगवती ने सामने एक खाट पर बैठकर कहा—"बस, मैं

यहां बैठा है।" बनिए ने उसकी गोद में गुड़ और चने लाकर डाल दिए, और भगवती वहीं बैठकर उन्हें चबाने लगा।

चबाते-चबाते भगवती बोला—"तुम्हारे गांव में कोई ऐसी जगह सराय, धर्मशाला या शिवाला भी है, जहां कोई बाहर का आदमी ठहर सके?"

एक किसान बोला—"पछाईं तरफ एक बाबाजी की बगीची है! वहीं नदी भी है। बड़ा रमनीक आश्रम है। वहां सब तरह का आराम मिलता है।"

भगवती बोला—"वहां क्या सबको ठहरने की इजाजत है? क्या कुछ देना पड़ता है?"

बनिए ने कहा—"नहीं जी! वह तो बाबाजी का आश्रम है। देना-लेना क्या! सुबह-शाम बड़ा आनंद रहता है। बहुत लोग दिसा-मैदान जाते हैं।"

अब भगवती ने और सवाल किया। पूछा—"क्या आजकल वहां कोई ठहरा है?"

मानो कोई कौतूहल की बात हो, इस प्रकार एक किसान बोल उठा—"हां-हां! एक आदमी वहां कुछ दिन से रहता है। बाबा उस पर बड़ी दया रखते हैं।"

भगवती का कलेजा धड़कने लगा। वह बोला—"उसके साथ कोई औरत भी है?"

किसान बोला—"है-है, उसकी बहन दुबली-पतली।"

भगवती के माथे पर पसीना आ गया। वह बोला—"बच्चा भी है ?"

"बड़ा सुंदर बच्चा है। तो तुम उसे जानते हो ?"

भगवती ने व्यग्रता छिपाकर कहा—"शायद !"

बनिया बोला—"उसकी छोटी-छोटी डाढ़ी है।"

किसान ने कहा—"पागल-सा है। नंगे पैरों बच्चे को लिए फिरा करता है।"

तीसरा बोला—"पर बहुत पढ़ा हुआ है।"

पहले ने कहा—"तभी तो उसकी ऐसी अकल हो गई है।"

भगवती चने खा रहा था। उसका मुँह सूख गया। अब वह चने न खा सका। पर वहीं पूरी चेष्टा से मन के उद्वेग को छिपाए अँधेरे में बैठ रहा। दूर से एक व्यक्ति आता देख पड़ा। बनिए ने दबी जबान से कहा—"चुपचाप देखो, वह आ रहा है। वही बच्चा उसके कंधे पर है।"

भगवती उत्सुकता से आगे बढ़ती हुई उस मूर्ति को अँधेरे में पहचानने लगा।

धीरे-धीरे वह व्यक्ति आगे बढ़ा। डाढ़ी के बाल छ-छ अंगुल बढ़ रहे थे, और बदन पर एक कुरता था। बच्चा उसके कंधे पर था। उसका चेहरा यद्यपि भगवती के सामने न था, फिर भी उसने पहचान लिया कि वही प्रवीण हैं। एकाएक उसका जी तिलमिला उठा, पर उसने मन को रोका, और बेचैनी दूर करने को चना खाने लगा। उसने यह बात लक्ष्य

की कि गांव के लोग और बनिया भी उन्हें कुछ कौतूहल की दृष्टि से देखते और उनसे दिल्लगी करते हैं।

आते ही उन्होंने कुछ अजब बेढंगे स्वर से कहा—"बताओ! तुमने मेरे बच्चे के लिये ताज़ा पेड़ा बनाया या नहीं?" बनिया कुछ मगरेपन से बोला—"साब, माफ़ करना। मैं भूल गया।" प्रवीण ने क्रोध से कहा—"और मैं तुमको पेशगी पैसा दे गया था!"

बनिए ने कहा—"खैर, पेड़ा कल बन जायगा, तुम इसे आज गुड़ ही की डली दे दो।"

प्रवीण ने कुछ मूर्खता के ढंग से अकड़कर कहा—"तो क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि यह गुड़ नहीं खाता?"

बनिए ने मुस्किराकर कहा—"नहीं, हमें तो कुछ मालूम नहीं।"

प्रवीण मानो कुछ देर क्रोध में भरे खड़े रहे।

एक किसान ने कहा—"क्यों साहब! यह बच्चा तुम्हारा है या तुम्हारी बहन का?"

प्रवीण उसकी तरफ़ बढ़े। उन्होंने बढ़कर क्रोध से कहा—"तुम इसकी पंचायत करनेवाले कौन हो?"

दूसरे ने मगरेपन ही से बीच-बचाव करते हुए कहा—"चुप रहो जी! ऐसा क्यों बेचारे को कहते हो?"

प्रवीण ने उधर से रुख फेर बनिए से कहा—"तो लाओ, एक पैसे का गुड़ ही दो। झूटे कहीं के।"

बनिए ने गुड़ तोल दिया। प्रवीण बच्चे को उसी तरह कंधे पर चढ़ाकर अँधेरे की तरफ़ चले गए।

उनके पीछे ही उस गँवार-मंडली ने क़हक़हा लगाया। उस क़हक़हे को सुनकर एक बार प्रवीण ने पीछे फिरकर देखा, और चल दिए।

भगवती की आँखों में खून उतर आया। वह सोचने लगा, दूसरों को शिक्षा देनेवालों की यह दशा हुई। ये गँवार उनका इतना अपमान करते हैं, पागल समझते हैं, और वह कुछ नहीं कर सकते?

उसने कुछ क्रोध से कहा—"तुम लोग इतना हँसते क्यों हो?"

बनिए ने हँसते-हँसते कहा—"हँसने की बात क्या कहूँ! यह हज़रत कल दो पैसे पेशगी दे गए थे कि पेड़ा बना देना। अब तुम कहो कि दो पैसे का कितना मावा-बूरा आवे, और कौन झमेला करे?"

भगवती कुछ बोला नहीं। वह बाक़ी गुड़-चना वहीं फेंक उसी ओर को चल खड़ा हुआ।

किसानों ने कहा—"तो क्या तुमने इसे पहचान लिया?"

भगवती ने कुछ भी जवाब न दिया। वह भी पीछे-ही-पीछे अंधकार में लीन हो गया।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

रात अँधेरी थी। तारों के प्रकाश में भगवती प्रवीण की परछाईं के पीछे-पीछे चलने लगा। कुटिया बहुत दूर न थी, पर बीच में एक खेत को पार करना पड़ता था। कुटी के निकट जाकर भगवती ने देखा, जिस स्थान पर कुटिया है, वह कुछ ऊँचा है। उसके नीचे नदी बह रही है, और उसके किनारे की रेती उस अँधेरे में भी चमक रही है। कुटी के पास नदी कुछ मुड़ गई है। भगवती ने देखा, बड़ा ही सुंदर दृश्य है। वह इसे देखता और छिपता हुआ प्रवीण के पीछे-पीछे जा रहा था। दूर से कुटिया से टिमटिमाता प्रकाश आ रहा था।

कुटी के पास पहुँचते ही प्रवीण ने पुकारा—"भैना ! ललुआ को ले। सूअर-पाजी आते-आते ही सो गया। बनिए बेईमान ने पेड़े आज भी नहीं बनाए। कल मैं ही बनाऊँगा।"

भगवती ने सुना, भीतर कोई प्रतीक्षा कर रही थी। उसने "आती हूँ" कहा, और आकर बच्चे को लेकर भीतर चली गई। भगवती वहीं खड़ा हो गया। बहू के कुटिया में जाने पर प्रवीण सामने छप्पर के उसारे में जाकर बैठ गए। भगवती यह भी देखता रहा। थोड़ी देर में उठकर वह बाबाजी के पास आ बैठे। बाबा बड़े बूढ़े थे, पर उनकी डाढ़ी-मूँछ बढ़ी

हुई नहीं थी। वह दुबले-पतले संन्यासी थे। उन्होंने हँसकर कहा—"कहो, बचुआ के लिये पेड़ा मिला क्या?"

प्रवीण ने उदासी से कहा—"कहाँ महाराज! यहाँ के बनिए बड़े दुष्ट हैं। मैं अब उसके यहाँ न जाऊँगा।" कुछ रुककर प्रवीण बोले—"अच्छा स्वामीजी! दोपहर की विचार-धारा समाप्त कर डालिए। मैं यह कह रहा था कि जब प्रायश्चित्त और दंड से शरीर या मन को कष्ट मिलता है, तब उससे अपराध का गुरुत्व कैसे नष्ट हो जाता है?"

संन्यासी ने गम्भीरता से कहा—"ऐसे कि अपराधी अपराध के स्वरूप से परिचित हो जाता है, और उसका मन उसे अपराध जानने लगता है।"

प्रवीण ने कहा—"तब! इससे क्या?"

संन्यासी बोले—"शास्त्र का वचन है कि 'हेयं दुःखमनागतम्।' जो दुःख अभी नहीं आया, उसे छोड़। और की चिंता मत करो, अर्थात् भविष्य को सुधारो। भूत को मत देखो।"

प्रवीण बोले—"और भूत को क्या करें?"

संन्यासी बोले—"उसे भूल जाओ।"

प्रवीण ने कहा—"यह तो बड़ा कठिन है।"

संन्यासी हँसकर बोले—"बहुत ही सरल है। भूलना तो प्राणी का स्वभाव है। प्राणी सदा स्मरण करने की चेष्टा करता है। भूलना तो स्वयं ही है। फिर भूलने की चेष्टा करने से तो अवश्य भुलाया जा सकता है।"

प्रवीण चुप रहे ।

संन्यासी और भी ज़ोर से हँसकर बोले—"बेटा ! बूढ़े की बात पर विश्वास नहीं होता है ? क्यों ?"

प्रवीण वैसी ही गंभीरता से बोले—"महाराज ! यदि प्रायश्चित्त या दंड में प्राण-नाश हो, तो ? तो किस भविष्य की चिंता करें ।" संन्यासी ने ज़रा कौतुक से कहा—"तो क्या प्राण-नाश के साथ भविष्य-नाश भी हो जायगा ? बेटा, तू बड़ा मूर्ख है ।"

प्रवीण विचलित नहीं हुए । उसी गंभीरता से वह बोले—"भविष्य न नष्ट हो, स्मृति तो नष्ट हो जाती है ।"

संन्यासी ने लापरवाही से कहा—"हो जाय !"

प्रवीण चुप बैठे रहे । संन्यासी फिर बोले—"तुम्हारा मतलब क्या है ?"

प्रवीण ने कहा—"मेरा मतलब यही है कि जब स्मृति नष्ट हो जायगी, तो प्रायश्चित्त या दंड भविष्य को बनावेंगे कैसे ? उसे भय होगा कैसे ? न उसे अपराध की याद रहेगी, न दंड की, न प्रायश्चित्त की ।"

संन्यासी बोले—"न रहे !"

"तब प्रायश्चित्त और दंड के सुधार का कैसे फल मिलेगा ?"

संन्यासी ने निश्चिंतता से कहा—"संस्कार से ।"

प्रवीण संन्यासी की ओर ताकते रहे ।

संन्यासी मुस्किराकर बोले—"नहीं समझे ?"

प्रवीण ने कहा—"नहीं।"

अब संन्यासी बोले—"देखो, स्मृति के आधार पर यदि मनुष्य का भविष्य छोड़ दिया जाय, तो मनुष्य फल भोगने में भी स्वतंत्र हो जाय। किंतु जीव में इच्छा-द्वेष है, इसलिये अनुताप-बुद्धि भी उसे उगती है और पाप-बुद्धि भी। जब पाप-बुद्धि उगती है, तब अनुताप की नहीं चलती। इसलिये पाप-बुद्धि उत्पन्न होने पर, अनुताप की स्मृति रहने पर उसकी अवहेलना की जा सकती है। इसलिये प्रारब्ध और भविष्य केवल स्मृति के ही साथ नहीं छोड़ा जा सकता। उसका निर्माण संस्कार के अधीन है। संस्कार वे स्थायी चिह्न हैं, जो आत्मा पर विशेष स्थिति में पड़ जाते हैं। वे अमर हैं, प्रबल हैं, और अमोघ हैं। इस जीवन में भी स्मृति कभी पाप को नहीं रोकती। संस्कार रोकते हैं। स्मृति के हाथों भविष्य देना तो अपराधी को न्यायाधिकार देने के समान है।"

प्रवीण कुछ देर नीचा सिर किए सोचते रहे, और संन्यासी निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देखते रहे। कुछ देर में प्रवीण ने कुछ पूछने को फिर सिर उठाया। संन्यासी ने कहा—"क्या ?"

प्रवीण बोले—"पश्चात्ताप उत्तम है या दंड ?"

संन्यासी ने स्थिर स्वर में कहा—"दंड।"

प्रवीण ने चौंककर कहा—"दंड ?"

संन्यासी ने दृढ़ता से कहा—"हाँ।"

प्रवीण बोले—"सो क्यों महाराज?"

"पश्चात्ताप में आत्मा का अपमान होता है, और मन को अभिमान। दंड में आत्मा की तुष्टि होती है, और मन को ताड़ना।"

प्रवीण का सिर फिर झुक गया। संन्यासी ने कहा—"अच्छा, अब आगे कल। अब जाकर सोओ।" प्रवीण उठकर चले गए। भगवती चकित होकर सब व्यापार छिपे-छिपे खड़ा देखता रहा। उसे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि प्रवीण को संन्यासी ने मूर्ख कह दिया, और उन्होंने कुछ भी न कहा। भगवती प्रवीण को धुरंधर विद्वान् मानता था। उसके कानों में ये शब्द गूँजने लगे—"बेटा, तू बड़ा मूर्ख है।"

प्रवीण अपने उसारे में जा चटाई पर सो रहे। भगवती के कान में आवाज़ आई। किसी ने कहा—"भाई! गाय को छप्पर में बाँध दो। उसे ओस लग जायगी।" भगवती ने तुरंत पहचान लिया कि यह आवाज उसकी स्त्री की है। उसका हृदय उमड़ आया। फिर उसने देखा, आज्ञा के साथ ही निरालस्य प्रवीण ने उठकर गाय बाँध दी है।

अब भगवती धीरे-धीरे आगे बढ़कर संन्यासी के निकट आया। संन्यासी ने कहा—"कौन?"

भगवती—"महाराज! मैं अतिथि हूँ। रात-भर को आश्रय चाहता हूँ।"

संन्यासी ने उसे ध्यान से देखते हुए कहा—"तुम कहाँ से आए हो ?"

भगवती ने कहा—"कई स्थानों से घूमते-फिरते आ रहा हूँ।"

बाबा बोले—"किस अभिप्राय से ?"

भगवती चुप हुआ। बहाना करने का उसे साहस न हुआ, और न वह स्पष्ट कह सका। कुछ विचारकर वह बोला—'स्वामीजी ! मैं एक आपत्ति-ग्रस्त आदमी हूँ। रात-भर के लिये आश्रय दीजिए, प्रातःकाल सेवा में निवेदन करूँगा।"

संन्यासी ने आकाश की ओर देखकर कहा—"रात बहुत बीत गई है। अच्छा, सामने चटाई पर सो जाओ; पर क्या तुम कुछ खाओगे नहीं ?"

भगवती ने कहा—"नहीं महाराज ! मैं खा चुका हूँ।"

संन्यासी बोले—"दूध भी नहीं ?"

"नहीं।"

संन्यासी ने आग्रह नहीं किया। भगवती सो गया। संन्यासी वैसे ही बैठे रहे।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

बड़े सवेरे उठकर भगवती ने सुना, बहू की कुटिया से चक्की की आवाज़ आ रही है। भगवती सोचने लगा, क्या बहू चक्की भी पीसने लगी है! वह उठकर बैठ गया। देखा, संन्यासी वहाँ नहीं हैं, और भी देखा, प्रवीण एक टोकरे में भुस भरते-भरते पुकार रहे हैं—"मैना! मैना! उसे छोड़। ज़रा गाय को चोकर डाल तो, मैं धार निकाल लूँ।" वहू बाहर आई। प्रातः-काल के अँधेरे में भगवती ने यह जानने की बहुत ही चेष्टा की कि वह किस अवस्था में है, पर न जान सका। वह एकटक उसी तरफ़ देखने लगा। प्रवीण धार काढ़ने बैठे, और बहू गाय के सामने खड़ी हो उसे चोकर खिलाने और माथा सहलाने लगी। भगवती का धैर्य जा रहा था, और वह कठिनता से मन रोके बैठा था। संन्यासी ने जंगल से लौटकर कहा—"क्या दिसा-मैदान नहीं गए?"

भगवती ने प्रणाम करके कहा—"अब जाता हूँ।" इतना कहकर वह उठा, और लोटा लेकर चल दिया।

स्टेशन बहुत दूर नहीं था। वह इधर ही आया। यहाँ आकर एक कार्ड उसने सुखदा को लिखकर छोड़ दिया। उसमें लिखा था—

"भाभी !

भगवान् ने सुन ली। भैया मिल गए हैं। सब कुशल है। उन्हें शीघ्र लेकर आता हूँ।

भगवती"

पेंसिल से झटपट कार्ड लिखकर और बंबे में छोड़ भगवती शौच से निवृत्त हो धीरे-धीरे कुटी की तरफ़ लौटने लगा। उसका दिल धड़क रहा था, और पैर उठते न थे। प्रकाश अच्छी तरह फैल गया था। कुटी के ज्यों-ज्यों निकट वह आता था, त्यों-त्यों उसकी घबराहट बढ़ती जाती थी।

कुटी निकट आई। उसने देखा, कुएँ पर एक स्त्री खड़ी पानी का डोल खींच रही है। रस्सी का हाथ खींचती बार उसका दुर्बल शरीर ज़ोर के मारे दोना हो-हो जाता है। यद्यपि भगवती की तरफ़ उसकी पीठ थी, पर उसने पहचान लिया कि यह बहू ही है। उसकी आँखों में आँसू आ गए। मैले वस्त्र, मैला शरीर और वह चक्की पीसती है, पानी भरती है; हाय ! इतने काम यह कैसे करती है !

वह धीरे-धीरे चलकर उसके पीछे जा खड़ा हुआ। बहू को इसकी कुछ भी ख़बर न थी। वह अपना घड़ा भरकर, उसे सिर पर जमाकर ज्यों ही पीछे को मुड़ी कि चार आँखें हुईं। एक क्षण तो बहू ने नहीं पहचाना, पर दूसरे ही क्षण उसके सिर से घड़ा छूट गया, और उसके मुख से चीख़ निकल गई। वह चार क़दम हटकर काँपती खड़ी रही। संन्यासी ने

आकर भगवती से कुछ रुष्ट स्वर में कहा—"भाई ! यह तुम्हारा कैसा आचार है ?"

पर जब उन्होंने देखा कि भगवती रो रहा है, तब वह एक बार बहू की तरफ और एक बार उसकी तरफ देखकर बोले—"मामला क्या है ?"

भगवती और जोर से रोने लगा। बहू अभी तक बद-हवास थी। संन्यासी बोले—"बेटी ! डर क्या है ? बोलो तो, यह कौन है ?"

बहू मुँह छिपाकर वहीं बैठकर रोने लगी। प्रवीण सामने से बछड़े को पानी पिलाने ला रहे थे। यह कांड देखते ही वह प्रथम तो उधर को लपके, पर तत्क्षण ही भगवती पर नजर पड़ते ही उनका शरीर सन्न हो गया। बछड़े की रस्सी उनके हाथ से छूट गई। वह कुटी के भीतर घुस गए। भगवती ने उन्हें देख लिया था। उसने देखा, वह घर में भाग गए हैं। फिर भी देखा, वह जेब से एक शीशी निकाल उसे मुख में उँडेलने का आयोजन कर रहे हैं। यह देखते ही भगवती 'सर्वनाश ! सर्वनाश !' कहकर उधर लपका। पीछे-पीछे संन्यासी भी आश्चर्य से चले। भगवती ने जब तक पहुँचकर उनके हाथ को पीछे से झटका दिया, तब तक आधी शीशी पेट में जा चुकी थी। उन्होंने हाँफते-हाँफते भगवती की ओर देखकर कहा—"भगवती ! मुझे मारना मत ! मैंने जहर खा लिया है। घड़ी-भर में मैं स्वयं मरा जाता हूँ।"

भगवती में ताब नहीं थी। वह प्रवीण से लिपटकर "भैया! यह क्या किया?" कहकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा।

संन्यासी की गंभीरता नष्ट हुई। उन्होंने चिल्लाकर, बहू को पुकारकर कहा—"बेटी! बेटी! दौड़ो, अनर्थ हो गया। तुम्हारे भाई ने विष खा लिया।" इसके बाद वह स्वयं अपनी कुटी की तरफ़ लपके।

प्रवीण ने भगवती की ओर देखकर कहा—"भगवती! भगवान् साक्षी हैं, बहू पवित्र है, पूर्ण पवित्र है। तुमसे हो सके, तो उसे प्यार करना, नहीं तो क्षमा करके उसका मन अवश्य रखना।"

भगवती बोला—"मुझे सब मालूम हो गया है। मैं तीन महीने से दर-दर भटक रहा हूँ। आज तुम मिले, तो तुमने यह कांड किया। हाय, मैं भाभी को कैसे मुख दिखाऊँगा! अरे, कुछ औषध—स्वामी—" इतना कहकर वह हक्का-बक्का हो, चारो तरफ़ देखकर रोने लगा।

बहू ने भीतर प्रवेश करके कहा—"यह क्या किया?" प्रवीण ने एकटक बहू को ताककर कहा—"मैना! तुम्हारी निर्दोषिता भगवती को मालूम है। अब लाओ, बच्चा मेरी गोद में दो।" बहू ने डबडबाई आँखों से प्रवीण को देखते हुए कहा—"यह क्या किया?" इसके बाद वह रो उठी।

अब संन्यासी ने अपनी झोली लेकर कुटिया में प्रवेश करके

कहा—"तुम लोग घबराकर गड़बड़ मत करो। उपचार करो।" इतना कह एक औषध निकालकर उन्होंने प्रवीण को पिलाई। इसके अनंतर उन्होंने भगवती को एक तरफ़ ले जाकर कहा—"भगवान् जो करेगा, सो होगा। तुम अभी शहर को डॉक्टर के लिये तार दे दो। विष निकालने का सामान और औषध लेकर अभी जो गाड़ी आ रही है, उसमें आ जाय। भगवती दौड़ गया।

इसके बाद उन्होंने बहू से कहा—"देखो बेटी! बहुत-सा पानी गर्म करो। देखो, घबराओ मत। भगवान् सब मंगल करेंगे। पर सुनो तो, यह क्या तुम्हारे स्वामी हैं?"

बहू ने नीची गर्दन कर सिर हिला दिया, और पानी गर्म करने चली गई।

संन्यासी ने प्रवीण के पास पहुँचकर कहा—"छिः! बेटा! संन्यासी के उपदेश पर इतना ही विश्वास किया?"

प्रवीण ने स्वामी के पैर छूकर कहा—"स्वामी! क्षमा करिए, मुझमें साहस न था।"

संन्यासी ने कुछ न कहकर और एक मात्रा दी, और पास बैठकर स्नेह से बोले—"तुम्हारे स्त्री है?"

प्रवीण ने डबडबाई आँखों से संन्यासी की ओर देखा।

संन्यासी बोले—"तो क्या वह तुम्हारे योग्य नहीं है?"

प्रवीण ने दुःख से कहा—"मैं उसके योग्य नहीं था!"

"तो उसका कुछ अपराध था ?"

"नहीं ।"

"तब उसे क्यों त्यागा ?"

"कर्तव्य-वश ।"

"किसके प्रति ?"

"इस स्त्री के ।"

"किस स्त्री के ? तुम्हारी बहन के ?"

"हां, मेरी इस पर कुदृष्टि थी ।"

संन्यासी चकित होकर उसकी ओर देखने लगे । प्रवीण ने कहा—"भगवती मेरा बाल्य सखा है ।"

संन्यासी चुप रहे । प्रवीण ने कहा—"परंतु यह पवित्र है, भ्रम-वश भगवती ने इसे घर से दुर्दशा-पूर्वक निकाल दिया था । इसने मेरे द्वार पर आकर विष खा लिया था ।"

संन्यासी अब भी न बोले, चुपचाप सुनते रहे । प्रवीण ने कहा—"मैंने इसकी रक्षा की, और अब तक की । अब भगवती ने उसे क्षमा कर दिया है ।"

संन्यासी बोले—"और तुम्हें ?"

"शायद मुझे भी ।"

"तब तुमने विष क्यों खाया ?"

"पहले खा चुका था । तब यह बात मुझे मालूम न थी । मैंने मानसिक पाप किया था, जिसका यथेष्ट दंड भोगा । अनुताप भी किया । अब मैं अपराधी की तरह मरना

न चाहता था। मैंने समझा, भगवती पाते ही मुझे मार डालेगा।"

संन्यासी बोले—"क्यों ?"

"इसलिये कि मैं उसकी स्त्री को ले भागा हूँ।"

"पर तुम तो उसे बहन कहते हो ?"

"मुझे विश्वास था, वह यह बात नहीं जानता है।"

"और अब ?"

"शायद भगवती जान गया है।"

संन्यासी ने कुछ न कहकर एक मात्रा तैयार करके कहा—"पी लो।"

प्रवीण ने कहा—"क्या इससे कुछ होगा ?"

संन्यासी बोले—"अब क्यों मरते हो ?"

प्रवीण बोले—"अब तो वश से बाहर की बात हो गई। पर स्वामिन्! मुझे विशेष कष्ट नहीं हो रहा है।"

संन्यासी ने प्रवीण की पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"बेटा! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि हिंदू-स्त्रियाँ विधवा होकर जीते-जी नरक में पड़ जाती हैं ? वे अंधी तो होती ही हैं, उनकी लकड़ी भी छिन जाती है।"

प्रवीण रोने लगे। अब उनकी वेदना बढ़ने लगी थी। उन्होंने कहा—"स्वामिन्! विष अपना काम कर रहा है। बच सके, तो बचाना। मैंने अपनी स्त्री को कभी सुख नहीं दिया।" इतना कहकर वह बड़ी ही मर्मभेदिनी दृष्टि से

संन्यासी की ओर देखने लगे। संन्यासी ने दवा पेट में उतार दी।

उनकी भृकुटी में बल पड़ गया। वह बोले—"तुम अवश्य जीओगे। तुम मर्द हो न! साहस करो। ज़रा उठकर टहलो तो। ऐसा कर सकोगे?"

प्रवीण उठने लगे, पर उठ न सके। संन्यासी ने और समय नष्ट न करके उन्हें उठा लिया, और सहारा देकर टहलाने लगे।

बहू ने आकर कहा—"पानी गरम तैयार है।"

संन्यासी बोले—"लोटा भर-भरकर इनके कंधे और गर्दन पर छींटे देती चल।"

प्रवीण के पैर लड़खड़ा रहे थे। उन्होंने मानो कुछ नींद में कहा—"महाराज! अब न बचूंगा।"

संन्यासी बोले—"मन में कमज़ोरी मत लाना। अपनी स्त्री के भाग्य से तुम अवश्य बचोगे। सावधान! शरीर को सतेज बनाए रहो।" इतना कहकर उन्होंने और भी तेज़ी से उन्हें घुमाना शुरू किया। बहू बराबर पानी छिड़क रही थी। अभी तक प्रवीण देख और बोल सकते थे, अब उनकी यह संज्ञा भी नष्ट होने लगी।

भगवती ने स्टेशन से लौटकर कहा—"डॉक्टर आ रहे हैं।" प्रवीण ने एक बार अपनी आंखें खोलकर और शक्ति बटोरकर कहा—"भगवती! जितना तुम्हारा ख़याल था, मेरा उतना अपराध नहीं था, और इसका तो बिलकुल नहीं था। जितना

था, उसका दंड भोग लिया है, और अब प्रायश्चित्त करता हूँ। पर तुम इस पर भी मुझे क्षमा न कर सको, तो तुम मेरी दुर्जनता का अनुकरण मत करना। मेरी स्त्री दुखिया है। उसका ध्यान रखना। भैना, तुमसे मुझे बहुत आशा है। और सुखदा के रहते माता की मुझे कुछ भी··" इसके बाद उन्हें हिचकियाँ आने लगीं, और इसके पाँच ही मिनट बाद वह बेहोश हो गए। बहू और भगवती ने घबराई दृष्टि से संन्यासी की ओर देखा। संन्यासी ने दृढ़ता से कुछ ऊँचे स्वर में कहा—"कुछ चिंता नहीं। तुम इसे पकड़कर डुलाते चलो।" भगवती उन्हें डुलाता रहा, और बहू पानी छिड़कती रही। प्रवीण बिलकुल बेहोश थे। उनका सिर कंधे पर लटक गया था।

एक घंटा बीत गया। रेल आ गई। भगवती डॉक्टर को देखने चला। उसने देखा, डॉक्टर दो परिचारकों के साथ उसे खोज रहा है।

भगवती ने कहा—"जल्दी आइए। वहाँ तो सब ख़त्म ही हुआ जाता है।"

आकर डॉक्टर ने रोगी की नाड़ी देखी। हृदय देखा। फिर बोले—"नाड़ी की चाल १६० है। टहलना बंद करिए, वरना हार्ट फ़ेल हो जायगा।" प्रवीण को लिटा दिया गया। डॉक्टर ने आँखों को देखकर कहा—"बचना कठिन है। क्या विष खाया था?"

शीशी घर में थी। उसमें अब भी सफ़ेद-सफ़ेद गाढ़ी-सी

दवा थी। डॉक्टर बोले—"ओफ़ ! मार्फ़िया ! तब क्या यह शीशी भरी थी ?"

इतना कह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए उन्होंने पिचकारी तैयार कर दाहने हाथ पर लगा दी। इससे निश्चिंत होकर वह कहने लगे—"कितनी देर हो गई विष खाए ?"

भगवती ने कहा—"तीन घंटे।"

डॉक्टर ने आश्चर्य से कहा—"तीन घंटे ! आश्चर्य की बात है। इतने विष से तीन घंटे में हाथी भी नहीं बच सकता !"

संन्यासी ने गंभीरता-पूर्वक कहा—'डॉक्टर साहब ! दवा दो, रोगी बच जायगा।"

भगवती ने कहा—"स्वामीजी ने औषध दी थी। अब तक उसी से चला।"

डॉक्टर ने ध्यान से संन्यासी को देखा। धीरे-धीरे समय जाने लगा। प्रवीण को जगाते रहने के यत्न बराबर जारी थे। आधे-आधे घंटे पर पिचकारी लग रही थी। संध्या हुई। रात आई, और गंभीर होने लगी। उसके साथ ही प्रवीण की मूर्च्छा भी गंभीर होने लगी। उसका मुख काला पड़ गया, और उस सन्नाटे में घड़ी की खट-खट के साथ उनके कलेजे की धड़कन मालूम होती थी। डॉक्टर बड़ी ही सतर्कता से ठीक टाइम पर पिचकारी देते थे। संन्यासी चुपचाप समाधिस्थ बैठे थे, और भगवती तथा वृद्ध डॉक्टर की आज्ञा की राह में तत्पर खड़े थे।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

तीन बजे संन्यासी ने आकर कहा—"रोगी का हाल क्या है?"

डॉक्टर ने कहा—"अपूर्व है। ऐसा कहीं नहीं देखा था। न प्राण निकलता है, न हार्ट फ़ेल होता है, और न रोगी होश में आता है।"

संन्यासी बोले—"तुम्हारे उपचार में कोई हानि न हो, तो एक मात्रा हमारी और दे दो।"

डॉक्टर बोले—"आपकी मात्रा से रोगी के प्राण बच सकें, तो दीजिए। हमारी क्या हानि है? मैं किसी आशा से यह सब नहीं कर रहा हूँ, वरन् मेरा कर्तव्य है कि प्राणांत तक या होश में आने तक बराबर पिचकारी लगाए जाऊँ।"

संन्यासी ने मात्रा दी। फिर वह बोले—"क्या अब तुम एक दस्त लाना नहीं पसंद करते?"

डॉक्टर बोले—"मुझे भय है, क्योंकि मूर्च्छा गहरी है।"

संन्यासी बोले—"कोई चिंता नहीं, तुम दस्त कराओ।"

डॉक्टर ने एनीमा दिया, पर पानी पेट ही में रह गया, बाहर निकला नहीं।

डॉक्टर बोले—"यह तो और भी बुरा हुआ। इसी से मैं डरता था। अब श्वास बढ़ जायगा।"

संन्यासी विचारने लगे। कुछ ठहरकर बोले—"थोड़ा पानी और चढ़ाओ।"

वही किया गया। रोगी के कराहने की आवाज़ निकली। देवदूत की ध्वनि के समान सबने सुना। तुरंत ही बड़े ज़ोर से भयंकर दुर्गंधित दस्त हुआ। संन्यासी प्रसन्न होकर बोले—"जय जगदीश हरे! अब इसके पेट पर गर्म पट्टी बाँध दो, जिससे पेट में वायु न भरे। डॉक्टर साहब! रोगी मरेगा नहीं।"

डॉक्टर ने कहा—"टाइम तो निकल गया है।"

संन्यासी बोले—"मैं और एक मात्रा दूँगा। तुम भी पिचकारी लगाओ। तुम्हारी यह पिचकारी विष को बाहर निकालती है क्या?"

डॉक्टर ने कहा—"नहीं।"

संन्यासी बोले—"तब विष को निर्वीर्य कर देती है?"

डॉक्टर ने सिर हिलाकर कहा—"जी हाँ इससे विष भीतर-ही-भीतर मिट्टी हो जाता है।"

संन्यासी बोले—"ठीक है। यही काम मेरी औषध का भी है।"

डॉक्टर ने चकित होकर कहा—"महाराज! आप तो बड़े भारी वैद्य हैं।"

संन्यासी ने हँसकर कहा—"तो हमें तुम कितनी तनख्वाह दिला सकते हो?"

डॉक्टर भी हँसे। भगवती को हँसी अच्छी लगी। उसने व्यग्रता के स्वर में कहा—"डॉक्टर साहब! कुछ भी आशा है?"

डॉक्टर बोले—"साक्षात् धन्वंतरि के समान सिद्ध वैद्य जब हैं, तब आशा अच्छी ही है। मैं तो इस पर ही आश्चर्य करता हूँ कि अब तक रोगी साँस कैसे ले रहा है!"

संन्यासी चिल्ला उठे—"जय जगदीश! यह देखो, रोगी ने आँखें चलाईं।"

डॉक्टर ने प्रसन्नता से कहा—"रोगी होश में है।"

बहू और भगवती, दोनो झपट पड़े। भगवती ने कहा—"भैया! भैया! हाय! तुम कैसे हो गए?"

प्रवीण ने दोनो को देखा; पर न कुछ कहा, न बोले। डॉक्टर बोले—"अब कोई चिंता नहीं, पर अभी सिर की दशा अच्छी नहीं है।" इसके बाद वह औषध की चिंता में लगे।

रात बीत गई। प्रभात हुआ। प्रवीण ने नेत्र तो खोल दिए, किंतु उन्हें ज्ञान बिलकुल न था। वह कभी-कभी भुनभुना उठते थे। इतने पर भी प्राण-रक्षा देखकर सबके आनंद की सीमा न रही।

डॉक्टर ने कहा—"यह दूसरा रोग हुआ। कुछ-कुछ उन्माद के लक्षण देख पड़ते हैं। इलाज में देर लगेगी, और मैं ठहर नहीं सकता।"

संन्यासी ने सोचकर कहा –"प्राण-रक्षा हो गई। अब रोगी को उसकी स्त्री की सेवा में ले जाओ, वहाँ कल्याण होगा।"

संन्यासी की आज्ञा पालन की गई। सब कोई संन्यासी के चरणों में सिर नवाकर चले। चलती बार बहू बहुत रोई। वीत-राग संन्यासी की आँखों में भी आँसू आ गए। उन्होंने कहा—"बेटा! जन्म-भर सौभाग्यवती रहो। भगवान् तुम्हें सुखी रक्खेंगे।" फिर हँसकर कहा—"पर अब हमें गरम रोटी न मिलेगी।"

बहू ने कहा—"महाराज! मुझे जन्म-भर न यहाँ से जाने की इच्छा थी, न विश्वास था। पर विधाता का विधान बड़ा अद्‌भुत होता है। महाराज! क्या भाई अच्छे भी हो जायँगे?"

संन्यासी बोले—"उनकी बहुत आयु है। अच्छा, अब जाओ। संन्यासियों से बहुत मोह मत बढ़ाओ।"

बहू ने चलते-चलते कहा—"महाराज! मेरी गैया की सुध रखना।"

संन्यासी मुस्किराए। तीन महीने रहने पर ही बहू को उस कुटिया से ऐसी ममता—प्रेम—हो गया था कि उस स्थान को छोड़ते उसके कलेजे पर साँप लोटने लगा।

उंतालीसवाँ परिच्छेद

कार्ड पाकर एक बार सुखदा सक्ते की हालत में रह गई। पर उसने किसी से कहा नहीं। उसने चुपचाप प्रण किया कि अब जब वह आ जायँगे, तभी अन्न-जल होगा। उसने बड़ी सावधानी से सास से यह बात छिपाई। दो दिन बीत गए, तीसरा दिन आया। दोपहर हो गई, पर कोई आया नहीं। वह घर ही में एक चटाई पर पड़ गई। रोम-रोम उसका बेचैन था।

जब दोपहर के दो बजे, तब सुखदा चटाई पर से उठी। हाथ-मुँह धोया। खुश्की के मारे गला सूख रहा था, पर एक बूँद जल भी उसने गले में नहीं उतरने दिया। वह धीरे-धीरे सीढ़ी चढ़कर ऊपर सास के पास चली। पाँच-छः सीढ़ी चढ़ने पर ही उसका दम फूल गया, और वह हाँफते-हाँफते बैठ गई। आहट पाकर सास ने कहा—"कौन, बहू? क्यों? वहाँ क्यों बैठ रही? ऊपर आ।" इतना कहते-कहते वृद्धा जो उठकर उसके निकट आई, तो वह उसके सूखे चेहरे को देखकर धक् से रह गई। उसने कुछ विस्मय और कुछ सहानुभूति के स्वर में कहा—"क्यों बेटी, ऐसी क्यों हो रही है, जी तो अच्छा है?"

सुखदा ने पहले तो मुस्किराकर वृद्धा को भुलावे में ही रखना चाहा, पर खेद की बात है कि वह चेष्टा करने पर भी मुस्किरा न सकी। तब उसने परेशान-सी होकर कहा—"अम्मा, मेरे पेट में बड़ा ही दर्द है।"

अबला सुखदा ने एक ढेले में दो पंछी मारे। एक तो उस समय की परेशानी का कारण छिपा सकी। दूसरे, इससे यह भी सोचा कि इस बहाने कोई उससे खाने-पीने के लिये आग्रह नहीं करेगा। वृद्धा घबरा उठी। उसने अपने कमजोर हाथों का सहारा देकर सुखदा को सीढ़ियों से उठाया। सुखदा तो भी खड़ी न हुई। झुकी-ही-झुकी जाकर ऊपर छत पर लेट रही। वृद्धा ने झट कहा—"ठहर-ठहर, मैं खाट बिछाए देती हूँ।" पर सुखदा ने मानो दर्द से बेचैन होकर कहा—"मुझे हिलाओ-डुलाओ मत।" इतना कहकर वह विशेष आग्रह से बचने के लिये आँखें बंद करके पड़ रही। वृद्धा विशेष आग्रह न कर सकी। लाचार पास बैठकर, सुखदा का सिर अपनी गोद में रखकर उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। सुखदा इस प्यार को, आदर को, प्रेम को, सहानुभूति, आराम और सुख को किसी तरह अस्वीकार न कर सकी, भीतर-ही-भीतर उसका मन उमड़ने लगा। उसके मन में आई कि इस ढोंग को छोड़कर सास के पैरों में लिपट जाऊँ। उनका सिर सहलाते-सहलाते उन्हें सुला दूँ। पर मन की बात मन ही में रक्खी। वृद्धा

बहू का मुँह, उसका दुख और स्थिति देखकर बहुत-सी बातें सोचने लगी ; वह सोचने लगी—"हाय ! मेरी बहू ऐसे त्याग और तिरस्कार के योग्य थी ? हाय ! जब मेरा बच्चा मुझ मा को ही नहीं पहचान सका, तो बहू को क्या पहचानेगा ? क्यों मैंने ऐसा कपूत जना ? ऐसा कपूत पैदा होते ही···"

इतना सोचते-सोचते आगे के अशुभ शब्द मन में आते ही विचार-कल्पना में धक्का लगा। वह पुत्र के लिये ऐसी अशुभ बात ध्यान में आते ही चौंक गई। उसकी आँखों से एक बूँद आँसू टपककर सुखदा के गाल पर आ गिरा। सुखदा ने आँख खोलकर देखा, सासजी रो रही हैं।

ढोंग का भंडा फूटते-फूटते रह गया। सुखदा ने गर्दन उठाकर सास की ओर देखा, पलकों तक आँसू भर आए। भूखा कलेजा ऐंठ गया। पर उसने हिम्मत से काम लिया। उसने मानो बुढ़िया के आँसू देखे बिना ही कहा—'अम्माजी, अब मेरा दर्द कुछ कम हुआ है।" इतना कहकर वह उठकर बैठ गई। उसने कई बार चेष्टा की कि सास के मुँह की ओर देखकर यह जान ले कि उस सुसमाचार का क्या असर पड़ा है, पर ऐसा वह न कर सकी, वह डर गई कि कहीं ऐसा न हो कि आँखों से आँसू फूट निकलें।

बुढ़िया ने थोड़ा रोकर बहू को छाती से लगा लिया। बड़ी देर तक उसके शरीर पर हाथ फेरती रही। इस अवसर से सुखदा ने पूरा लाभ उठाया, वह पेट भरकर

चुपचाप रो ली। इससे उसका जी कुछ हल्का हो गया। तभी बुढ़िया ने कहा—"बहू, तूने सिर की क्या दशा कर रक्खी है ? ला, जरा-सा तेल ले आ। सिर तो ठीक कर लूँ।" इतना कहकर एक ठंडी साँस लेकर बुढ़िया ने मानो मन के तूफान को धक्का देकर हृदय से निकाल फेंका।

सुखदा इस आक्रन्द से घबराई। उसने ऊपर को मुँह करके अपने दाँतों से नीचे का होंठ काटकर कहा—"यह देखो अम्मा फिर वही दौरा हुआ।"

बुढ़िया कुछ भी स्थिर न कर सकी। बहू की ओर देखती रही। कुछ ठहरकर बोली—"अच्छा तो, थोड़ी हींग खा।" इतना कह वह रसोई की तरफ चली। सुखदा ने मना तो किया, पर उसकी चली नहीं।

बुढ़िया ने थोड़ी हींग और गिलास-भर पानी देकर कहा—"ले, इसको पानी के साथ निगल जा।"

सरला सुखदा ने बुढ़िया की आँखों में धूल झोंककर अपने हाथ से हींग गिरा दी, और कहा—"पानी नहीं पीऊँगी। नहीं तो उल्टी हो जायगी।" इसके बाद सुखदा पड़कर चुपचाप सो रही।

वृद्धा ने उसे सोई जानकर चुपचाप उठकर चूल्हा जलाया। जरा-सी खिचड़ी बनाकर वह बहू के पास आकर आदर से बोली—"बहू, ले, जरा उठकर थोड़ी-सी खिचड़ी खा ले।

भूखी खाने से बचने के लिये तो सारा ढोंग था। सुखदा ने

कानों पर हाथ रखकर कहा—"ना अम्माजी, खाकर क्या मरना है ? ज़रा सोने से तबियत बहुत हल्की हो गई है।"

बुढ़िया चुप रही। उसकी समझ में न आया, आग्रह करना उचित है या नहीं। कुछ देर चुपचाप रहकर उसने बड़ी अधीरता से दाँत निकालकर, गिरियाकर कहा—"अच्छा बच्ची, ज़रा-सी खा ले, खाली पेट किस तरह सोवेगी ?"

बच्ची ने बड़ा ही करारा इनकार कर दिया। उसने कहा—"अम्मा, यही तो तुम्हारी खराब आदत है। ऐसे ही लाड़ से तो रोग बढ़ जाता है।"

अब बुढ़िया अधिक आग्रह न कर सकी। बोली—"अच्छा, तो ठहर, थोड़ा दूध मँगाती हूँ, उसे ही ज़रा पी लेना।" सुखदा रोकती ही रह गई, पर बुढ़िया ने एक न सुनी।

संध्या हुई। रात आई। गहरी हुई। पर हाय ! सुखदा का व्रत निष्फल गया। आशा डूब गई। उसकी मनःशक्ति, आत्म-विश्वास, छिन्न-भिन्न हो गया, उसके पति देवता न आए, न आए। उसने "ठहरकर पी लूँगी" कहकर दूध रख लिया था। प्रातःकाल अँधेरे मुँह बुढ़िया बहू का मिजाज़ पूछने आई, तो देखा, दूध वैसा ही कटोरे में धरा-धरा जम गया है। उसने कहा—"यह क्या, बहू ! दूध नहीं पिया था क्या ?"

सुखदा ने कहा—"अम्माजी ! रात जो नींद आई, तो अभी आँख खुली है।"

यह बात बिलकुल झूठ थी। सुखदा रात-भर सतीत्व के

गौरव पर विचार करती रही। एक समय था, जब प्रतिव्रता सूर्य के उदय को रोक सकती थी। पृथ्वी पर हाहाकार मचा सकती थी। सतीत्व के बल से योगियों को दुर्लभ, पारदर्शिनी शक्ति प्राप्त कर सकती थी। उनका सतीत्व पति का रक्षा-कवच था। पर हाय! आज सतीत्व का बल ऐसा जीर्ण हो गया—ऐसा निस्तेज हो गया कि आवाहन करने से, निर्जल व्रत करने से, प्रतिक्षण मनन, ध्यान, योग सब कुछ करने से वह स्वामी का दर्शन भी न कर पाई! हा कलियुग! पतिव्रता का यह अपमान!

चालीसवाँ परिच्छेद

सुखदा युद्ध में हारे हुए राजा की तरह, मनःशक्ति की विजय-सभा में फ़ैसला सुनने को, रसोई की तरफ़ बढ़ी। सब बहाने व्यर्थ थे। सास ने थोड़ी खिचड़ी-दलिया जो परोस दिया, चुपचाप खा लिया। ग्लानि के मारे मरी जाती थी, बात मुँह से नहीं निकलती थी, अभक्ष्य की तरह कौर मुँह से निकल-निकल पड़ता था। पर सुखदा ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। सास का दुःख उससे देखा न गया। वह सास को सुखी करने के लिये बड़ी कठिनाई से खिचड़ी के नरम ग्रासों को गले से उतारने लगी। लज्जा और क्रोध से उसका मुँह लाल हो आया। रुलाई गले तक आ गई। पर वह रोई नहीं।

भोजन समाप्त नहीं हुआ था। प्रत्येक ग्रास मुँह में रखकर सुखदा सोचती थी, इतने से क्या सास को संतोष हो जायगा? अच्छा, और दो-एक ग्रास सही। द्वार पर खड़-खड़ हुई। सुखदा के कान खड़े हुए। उसने मुँह चलाना बंद करके कहा—"कोई है क्या?"

वृद्धा ने रसोई से बाहर झाँककर कहा—"कौन होता, कोई नहीं है।" इतना कहते-ही-कहते बुढ़िया ने एक साँस ली, और फिर एक चमचा खिचड़ी परोसने लगी। सुखदा

कहती ही थी कि नहीं-नहीं, अब नहीं, पर अवकाश नहीं मिला। द्वार पर से ऊँची आवाज़ आई—"खोलो-खोलो।"

सुखदा के शरीर के रक्त की गति रुक गई। उसने सोचा—"क्या व्रत सफल हुआ? क्या स्वामी आ गए? हे भगवान्! क्या स्वामी आ गए?"

वृद्धा ने जाकर द्वार खोला। भगवती ने लपककर, भीतर घुसकर कहा—"खाट बिछाओ, खाट।"

सुखदा थाली छोड़ खड़ी हो गई। वृद्धा ने पूछा—"बात तो कह, क्या हुआ?"

भगवती ने परेशानी के स्वर में कहा—"भैया बीमार हैं।"

सुखदा का शरीर सौ मन का हो गया। पसीना पनाले की तरह बह निकला।

बुढ़िया ने घबराकर कहा—"कहाँ हैं?"

भगवती ने कहा—"बाहर गाड़ी में।"

बुढ़िया बाहर दौड़ी। सुखदा भीतर चली। अब वह हृदय थामकर द्वार की ओर देखने लगी। उसने देखा, दो आदमी हाथोंहाथ उठाकर स्वामी को ला रहे हैं। सारा शरीर दुपट्टे से कसकर बँधा है। लोगों ने लाकर उन्हें खाट पर लिटा दिया। गम-गम कई आदमी भीतर घुस आए। सुखदा किनारे पर हटकर खड़ी हो गई। डॉक्टर साथ थे। सब ठीक होने पर भगवती ने कहा—"डॉक्टर साहब, अब?"

डॉक्टर ने कहा—"बस, अब सँभाल रखना तुम्हारा काम

है। होश में आने पर बकें-झकें और गड़बड़ करें, तो चारपाई से कस देना। दवा ज़रूर ठीक टाइम पर पेट में पहुँचनी चाहिए, और देखो, हर वक्त एक आदमी पास जागकर रहे। वह आपे में तो हैं ही नहीं, न-जाने कब खिड़की से गिरकर हाथ-पैर तोड़ बैठें।"

सुखदा और उसकी सास तो कुछ भी नहीं समझीं। सुखदा दम घोटे, साँस की गति को रोके एक कोने में खड़ी थी। बुढ़िया ने कातर होकर कहा—"अरे! मुझे बताओ तो, लाल को क्या हो गया? उसके हाथ-पाँव तो खोल दो।"

भगवती ने सब बात खोलकर कहना ठीक नहीं समझा। उसने कहा—"मा, घबराओ मत। भैया जल्दी अच्छे हो जायँगे।"

इतना कहकर वह फिर डॉक्टर से बात करने में व्यस्त हो गया। बुढ़िया पुत्र का सूखा और मूर्च्छित मुँह देखकर उस पर हाथ फेर-फेरकर रोने लगी। डॉक्टर बाहर आ गए। सुखदा स्वामी के पैरों के पास चुपचाप खड़ी हो गई। वृद्धा ने बिलखते हुए कहा—"बहू, देखा, मेरा बच्चा कैसा हो गया? हाय! कैसे कसकर हाथ-पाँव बाँध रक्खे हैं। बहू ज़रा हाथ तो खोल।" इतना कहकर वह गाँठ खोलने लगी। बहू ने भी योग दिया। सुख और आराम पाकर प्रवीण की मूर्च्छा जागी। प्रथम उन्होंने विस्मय से इधर-उधर देखा। फिर एक क्षण वृद्धा की तरफ़ ताका। वृद्धा ने प्यार से उनके मुख पर हाथ फेरकर कहा—"मेरे लाल, तुम कहाँ चले गए थे?"

प्रवीण ने मानो कुछ नहीं सुना। उन्होंने कहा—"पानी—"

सुखदा दौड़ी गई। गिलास भर लाई। लजाती हुई स्वामी के सामने खड़ी हो गई।

प्रवीण पानी लेने को उठे। पहले उन्होंने घूरकर सुखदा को ताका। फिर मुस्किराए। जन्म-कर्म में स्वामी की चिर-वियोग के बाद मिलन में ऐसी चाह की दृष्टि और मुस्किराहट देख-कर सुखदा लाज में डूब गई। उसके गालों पर लाली दौड़ गई। आंखें धरती में गड़ गई। एकाएक प्रवीण ने अट्टहास किया. सुखदा ने चौंककर देखा, स्वामी के गले की नसें फूल गई हैं, चेहरा स्याह हो गया है, और आंखें भयंकर रूप से बाहर को निकली पड़ती हैं। वह डर गई। डरते-डरते उसने गिलास का हाथ आगे को सरका दिया। प्रवीण ने वेग से झपटकर, सुखदा का गला पकड़कर दबा डाला। सुखदा चीख उठी। गिलास हाथ से छूट गया, वृद्धा दौड़ो-दौड़ो करके बाहर को भागी।

तुरंत ही डॉक्टर और भगवती दौड़े आए। उन्होंने बल-पूर्वक दोनों हाथों से सुखदा को छुड़ाया। प्रवीण का वेग कुछ कम हुआ। वह एक-दो मिनट हांफते-हांफते खड़े ही रहे। पीछे वृक्ष की तरह खाट पर गिर गए। सुखदा भी बेहोश हो गई थी। डॉक्टर उसकी सुश्रूषा में लगे। भगवती ने फिर उनके हाथ-पांव बांध दिए। सुखदा तुरंत ही सँभलकर उठ बैठी। बुढ़िया तो हतबुद्धि की तरह यह लीला देख काठ हो गई।

कुछ ठहरकर बुढ़िया ने भगवती से कहा—"कहो तो, मेरे लाल को हुआ क्या ?" भगवती ने एक दृष्टि सुखदा पर डाली। पर वह उस करुणता को देख न सका। उसने नीची नज़र करके कहा—"भैया का सिर फिर गया है, पर कुछ डर नहीं। डॉक्टर साहब ने कहा है कि जल्दी ही आराम हो जायँगे। तुम इन्हें खोलना मत।"

वृद्धा ने छाती पीटकर कहा—"मेरा लाल अंत में पागल हो गया ? यह भी हुआ ? मेरा बचुआ पागल कैसे हुआ ? हाय, अब क्या होगा ?"

भगवती ने रुँधे कंठ से कहा—"मा, ख़तरे का समय तो निकल गया। भैया ने ज़हर खा लिया था।"

अब सुखदा से न रहा गया। वह आगे बढ़ आई। उससे कुछ पूछा तो न गया, पर उसकी आँखों में उद्वेग को देखकर भगवती उसके प्रश्न को समझ गया। धीरे-धीरे भगवती ने सब कथा कही। वृद्धा तो रोने और बकने लगी, पर सुखदा ने एक लंबी साँस खींचकर कर्तव्य की ओर पग बढ़ाया, और धोती का गाछा कसकर रोगी की सेवा के कठिन कार्य में तत्पर हुई। उसने भगवती से कहा—"अच्छा, तुम जाओ, खाओ, और आराम करो।"

भगवती ने कहा—"न, डॉक्टर ने कह दिया है, यह न होगा। मैं भैया को न छोड़ सकूँगा।"

पर भगवती को सुखदा के सामने हार ही खानी पड़ी। वह

सोने को चला, और सुखदा रोगी के पास आसन जमाकर बैठी। भगवती को एक दिन की बात याद आ गई। ऐसा ही रोगी की सेवा का अवसर आया था। तब प्रवीण से हार खाकर उसे सोने जाना पड़ा था। आज सुखदा से उसे हार माननी पड़ी।

सुखदा को काम मिला, उदासी नहीं थी, मलिनता भी नहीं थी। काम मिल गया था। काम रुचि का था, चाह का था। अपने हृदय के समस्त उत्साह, प्रेम और चाह को लेकर वह रोगी के पास बैठी। भला, उसे आज यह दिन तो नसीब हुआ!

इकतालीसवाँ परिच्छेद

प्रातःकाल जब भगवती अपने घर पहुँचा, तो देखा, घर स्त्रियों से भर रहा है। उन्होंने रों-रों, गों-गों मचा रक्खा है। स्त्रियाँ बुढ़िया के कान खाए जाती हैं। बुढ़िया न तो किसी को धमका सकती है, न समझा सकती है। बहू वहाँ नहीं है, वह अपने कमरे में ऊपर द्वार बंद किए पड़ी है। कई स्त्रियाँ साहस करके उसे बुलाने गईं, पर वह नहीं आई। स्त्रियों के मन की मन में ही रह गई, क्योंकि वे मुँह-दर-मुँह उससे इस कुकर्म का कारण पूछना चाहती थीं। तो भी वे निराश नहीं हुईं। वे आपस ही में, भगवती ही के घर में, उसी की मा के सामने, तरह-तरह के अलंकारों से युक्त वाग्बाण-वर्षा कर रही थीं।

भगवती ने रास्ते में आते हुए सुना, पड़ोस की स्त्रियाँ अपने घर के द्वार पर खड़ी उन्हीं की बहू की आलोचना कर रही हैं। उसने यह भी देखा कि उसे आता देख सब उसे ठुड्डी पर हाथ धरके अचरज से देखने लगीं। किसी-किसी ने इशारा किया। किसी ने हँस भी दिया। पर भगवती सुट्ट मारे सीधा अपने घर आ गया। घर पर भी जब उसने ऐसा रौला सुना, तो वह क्रोध में भरकर बोला—"मा, यह क्या पंचायत लगा रक्खी है ?"

भगवती की आवाज़ सुनकर नवोढ़ा भीतर भाग गईं, प्रौढ़ा घूँघट खींच बैठीं, और खब्बा बुढ़ियों ने पोपला मुँह हिला-हिलाकर, पास आकर तरह-तरह के प्रश्न पूछने शुरू कर दिए। किसी ने पूछा—"कैसे पकड़े ?" किसी ने कहा—"तुम्हें खबर कैसे लगी ?" अब भी नई-नई स्त्रियाँ आ रही थीं, और उपस्थित मंडली में "बहू आ गई ? कहाँ है ? कहाँ है ?" कह रही थीं। भगवती ने ललकारकर कहा—"तुम सब लोग अपने-अपने घर जाओ।"

इतना सुनते ही रंगीन दल में हड़बड़ी मच गई। कोई तो एकदम पत्ता तोड़ भागी; कोई धीरे-धीरे गर्व से तनकर और मान से फूलकर। पर कोई-कोई खड़ी ही रही। उन्होंने समझा, हमसे थोड़े ही निकलने को कहा है। पर भगवती ने फिर एक ललकार बताई, तो वे भी खिसकीं। अब भी खिच्चू की मा ने उसके पास आकर कहा—"क्यों लाला, कुछ लड़ाई-झगड़ा तो नहीं करना पड़ा ?"

भगवती ने झिड़ककर कहा—"मग़ज़ मत खाओ, अपने-अपने घर जाओ।"

अब गुंजाइश नहीं रही। मैदान साफ़ हो गया। भगवती की मा चुपचाप खड़ी थी। उसके मुँह से बात नहीं निकलती थी। भगवती को देखकर वह रो उठी। पर भगवती ने उसे रोककर कहा—"मा, रोओ मत। सब ठीक है।"

बुढ़िया ने रोते-रोते कहा—"मेरे कुल में दाग लग गया। अब मैं कैसे किसी को मुँह दिखाऊँ ?"

भगवती ने बैठकर धीरे-धीरे सब बात कह सुनाई। इसके पीछे भगवती उठकर बहू के कमरे में गया। बहू चारों तरफ़ से किवाड़ बंद किए बैठी थी। भगवती के पहुँचते ही व्यग्रता से कहा—"वह कैसे हैं ?"

भगवती ने एक तीक्ष्ण दृष्टि से स्त्री की ओर ताककर कहा—"रात को दो-एक बार उसी तरह चिल्लाकर ज़ोर से हँसते रहे। एक बार हाथ खुले पाकर भाभी का गला दबा डाला था।"

बहू ने कहा—"तब चलो, वहीं चलें। अकेली जीजी क्या-क्या कर लेगी ?"

भगवती ने देखा, उसकी दृष्टि में न लज्जा थी, न संकोच। वही लज्जाशील बहू आज कर्तव्य-परायणा गृहिणी बन गई थी। उसने पति के भाव और दृष्टि की कुछ परवा न कर कहा—"तुम ठहरो, मैं हाथ-मुँह धो आऊँ, तब चलेंगे।"

इतना कहकर बहू बाहर आकर झटपट जरूरी कृत्यों से निबटकर तैयार हो गई।

सास बहू का मुँह नहीं देखना चाहती थी। उसने यह बात ताड़ भी ली। पर बुढ़िया हैरान थी कि बहू ने न तो उसकी खुशामद की, न लल्लो-चप्पो। पहले उसकी धारणा थी कि बहू चाहे जितना रोए-पीटे, सिर धुने, मैं कभी उसे न क्षमा करूँगी, लात मार निकाल दूँगी। इतनी ही देर में वह

उस लल्लो-चप्पो की प्रतीक्षा करके थक गई। थोड़ी देर में उसने देखा, उसकी बहू और बेटा, दोनो बाहर जा रहे हैं। न सलाह, न मशविरा। वह मानो घर में नहीं है—उनकी मा तथा सास ही नहीं है। मान का मौक़ा नहीं था। अंत में उसने कहा—"कहाँ जाते हो?"

भगवती ने कहा—"भैया के घर, उनकी तबियत बहुत ही ख़राब है।"

वृद्धा का जवाब सुनने को वह रुका नहीं, लंबे हो चल दिया।

कहना नहीं होगा कि युगल मूर्ति को रास्ते में स्त्रियों ने देखकर तरह-तरह की भाव भंगी दिखाई। अधिकांश में सुनाई दिया—"अब कहां चले? क्या देशनिकाला हो रहा है?"

घर में अंदर भगवती और बहू ने देखा कि प्रवीण होश में हैं, पर आपे में नहीं हैं। वह हँसे ही जाते हैं। दृष्टि स्थिर है। सुखदा हाथ में दवा लिए बार-बार पीने का अनुरोध कर रही है, पर प्रवीण का इस तरफ़ ध्यान नहीं है। वह कभी-कभी बड़बड़ा भी उठते हैं। भगवती ने घर में प्रवेश किया। सुखदा ने पीछे फिरकर देखा। यह भी देखा, भगवती के पीछे एक मूर्ति और है। यह कौन? बहू? एक बार उन चोर आँखों से चार आँखें हुईं। सुखदा ने उधर से मुँह फेर लिया।

भगवती ने कहा—"भाभी, क्या दवा अभी तक नहीं दी?"

सुखदा ने नीची नजर किए, धीरे से कहा—"ना।"

बहू ने आगे बढ़कर कहा—"लाओ, मुझे दो।"

इतना कह उसने हाथ बढ़ाकर प्याला ले लिया। सुखदा के शरीर में सनसनाहट हो गई। उसके मन में इनकार करने की थी, पर इनकार न कर सकी। वह कुरसी से उठकर खड़ी हो गई। बहू ने कुरसी पर बैठकर, चम्मच में दवा लेकर कहा—"लो, दवा पी लो।"

प्रवीण ने उधर न देखा। वह छत की तरफ़ ताककर हँसते रहे।

बहू ने डपटकर कहा—"दवा पी लो।"

अब की बार प्रवीण ने उधर देखा। आँखें सिकोड़कर देखा। फिर रोनी सूरत बनाकर कहा—"ना-ना, मारना मत। मैं काली गऊ हूँ।"

बहू ने कहा—"दवा पियो।"

इतना कहकर दवा का चम्मच मुँह से लगा दिया। दवा गले से उतर गई। उसके पाँच मिनट बाद ही उन्हें नींद या बेहोशी ने धर दबाया।

सुखदा धरती में गड़ गई। उसके शरीर में पसीना आ गया। उसने सोचा, इस उन्मत्त दशा में भी इसका इतना प्रभाव? उसने एक बार रोष-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखना चाहा, पर देख न सकी।

बहू ने कुरसी से उठकर कहा—"जीजी, अब तुम हाथ-मुँह धोकर कुछ खा-पी लो। यहाँ यह बैठे हैं। चलो, तुम्हारे साथ मैं चलूँ।"

सुखदा अब भी बहू के मुख की ओर न देख सकी। उसने नीचे-नीचे ताककर धीमे स्वर में कहा—"भीतर जाओ, अम्माजी हैं। मुझे तो अभी कुछ इच्छा नहीं है।"

बहू ने दोनो हाथ पकड़कर कहा—"तो क्या जीजी, मैं तुम्हारे घर में भूखी रहूँगी? चलो, भीतर चलो।"

सुखदा बात बढ़ाना नहीं चाहती थी। वह भीतर गई। भगवती ने उधर देखा, और एक साँस ली।

बहू ने कहा—"मैं तो शौच से निबट आई हूँ, तुम भी हो आओ।"

सुखदा ने कहा—"अभी मुझे हाजत नहीं है।"

बहू की तत्परता ठंडी हो गई। उसने एक उदास दृष्टि से सुखदा की ओर देखा। वह उसकी ओर नहीं ताक रही थी। बहू उदास हो गई। उसने सुखदा के दोनो हाथ पकड़कर कहा—"जीजी, मुझसे नाराज़ हो?"

सुखदा चुप रही। बहू ने उसके हाथ अपनी तरफ़ खींचकर कहा—"जीजी, तुम्हें मेरी क़सम, कहो तो।"

सुखदा को क़सम खाने या सुनने का अभ्यास नहीं था। वह घबरा गई। कैसी विडंबना है!

जिसके कारण इतना हो चुका, उससे सुखदा नाराज भी न हो। वह चुप रही। बहू हाथ पकड़े हुए थी। सुखदा ने देखा, बहू के हाथ काँप रहे हैं। उसने डरते-डरते बहू के मुँह की ओर देखा—हैं! यह क्या? बहू तो रोती है। और भी देखा, वह

सुंदर मुख कुम्हलाकर अत्यंत दुर्बल और पीला पड़ गया है। उसने कहा—"रोती क्यों हो? मैं तुमसे नाराज़ नहीं हूं।"

पर बहू के धीरज का बाँध टूट गया। वह गाय की तरह डकराकर सुखदा के पैरों में लोट गई।

सुखदा ने घबराकर कहा—"ऐसा क्यों करती हो? उठो-उठो।"

पर बहू उठी नहीं। सुखदा ने बैठकर उसे गोद में उठाया। बहू सिसक-सिसककर रो रही थी। सुखदा भी रो उठी। रोते-ही-रोते उसने बहू के आँसू पोंछे। उसके हृदय का मैल और ग्लानि धुल गई। उसने कहा—"बहन, सब कर्मों का दोष है। जो हुआ, सो हुआ, अब तुम मत रोओ।"

बहू ने सिसकियां लेते-लेते कहा—"जीजी, यदि मैं कुछ भी पापिन होती, तो ईश्वर जानता है, तुम्हें मुँह न दिखाती। वह मेरे भाई और मैं उनकी बहन हूँ।"

सुखदा से न रहा गया। उसके आँसू उमड़ पड़े। वह बोली—"चलो, कुछ खा लो। तुम कब की भूखी हो!"

बहू सुखदा की गोद में मुँह छिपाकर रोती रही। सुखदा का अत्यंत उदार हृदय करुणा से भर गया। वह हर तरह उस समय बहू को सांत्वना देने की चेष्टा करने लगी। वह थोड़ी मिठाई और एक गिलास जल ले आई, पर बहू ने धरती से सिर न उठाया। सुखदा ने प्यार से गोद में उठा लिया, मुँह पोंछा, और अनुनय से खाने का अनुरोध किया।

जिस सुखदा ने कभी क़सम नहीं खाई थी, उसने अपने सिर की क़सम देकर बहू से खाने का अनुरोध किया। बहू खाने बैठी। उसने पहला ग्रास उठाकर सुखदा के मुँह में दिया। सुखदा इनकार न कर सकी। उसने भी एक टुकड़ा उठाकर बहू के मुँह में दिया। बहू ने एक बार आँख उठाकर सुखदा की ओर देखा। सुखदा के नेत्रों में प्रगाढ़ प्रेम बरस रहा था। बहू ने वह टुकड़ा खा लिया। मैत्री की हद हो गई! दोनो ने एक ही थाली में—एक दूसरे के हाथ से—खाया, और एक गिलास में पानी पिया। कदाचित ही किसी प्रेमी ने ऐसे प्रेम से सहभोज किया होगा! उसी सहभोज के साथ उनका मनोमालिन्य भी मिट गया। दोनो फिर साफ़ हो गईं। बहू ने सुखदा को पूज्य दृष्टि से और सुखदा ने बहू को वात्सल्य-दृष्टि से देखा। दोनो के आँसू सूख गए। खा-पीकर दोनो उठ गईं। दोनो की छातियों में मिलकर अपूर्व प्रेम का स्रोत बह रहा था।

बयालीसवाँ परिच्छेद

श्रावणी पूर्णिमा थी। घर-घर त्योहार था। आकाश में बादल थे, और कभी-कभी कुछ बूँदें पड़ जाती थीं। प्रवीण की दशा आज बहुत खराब थी। कई दिन से उन्हें ज्वर हो गया था। वही ज्वर निरंतर तेरह दिन तक खूब तेज रहा। ज्वर के वेग को कम करने के लिये बड़े-बड़े उपचार किए गए, पर व्यर्थ हुए। ज्वर १०४ डिगरी से हरगिज़ कम न हुआ। कभी इससे भी ऊपर पहुँच जाता था। इस उत्ताप की तेज़ी में प्रवीण निस्संज्ञ की तरह बड़बड़ाते, बकते और किसी को भी न पहचानते थे। उन्माद-रोग मानो चला गया था। क्योंकि न नेत्रों में वैसा टेढ़ापन था, और न वैसी भयंकर हँसी ही। यह सिर्फ़ सन्निपात की बड़बड़ाहट थी। सुखदा सात दिन से बिना आहार किए स्वामी के सिरहाने बैठी है। उसकी सास ने, बहू ने और भगवती ने हज़ार मिन्नतें कीं, खुशामद की, और ज़िद की, पर सुखदा न खाने को उठी, न सोने को, न शौच आदि को ही। वही मैली धोती, वही मैला मुख, वही सूखी, निस्तब्ध आँखें और सबके ऊपर कर्तव्य-परायण शरीर। सुखदा सुनती थी केवल डॉक्टर की बात, और मानती भी थी डॉक्टर की बात। सब थकते थे, पर सुखदा नहीं थकती। सब रोते थे,

पर सुखदा नहीं रोती थी। सब किंकर्तव्य-विमूढ़ होते थे, पर सुखदा नहीं होती थी। वह एक मन, एक वचन, एक प्राण से पति-सेवा में लगी थी।

रात को तबियत बहुत खराब थी। पर सुबह चार बजे ही से पसीना आना शुरू हुआ। डॉक्टर बुलाया गया, पर वह उस समय आया नहीं। सुखदा थर्मामीटर से ज्वर नाप रही थी। पसीने का वेग बढ़ने लगा, और रोगी की बकवाद शिथिल पड़ने लगी। कपड़े-पर-कपड़े तर होने लगे, और रोगी की संज्ञा मानो बहुत दूर चली गई। मानो बहुत दूर से वह बोल सुन रहा था। सुखदा से न रहा गया। उसने अंत में उठकर सास को जगाया। बुढ़िया चादर से शरीर ढाँककर, उस प्रभात के अँधेरे में, भगवती को बुलाने गई। रोगी के हाथ-पाँव ठंडे पड़ने लगे। वृद्धा ने और भगवती ने भी लौटकर देखा, भविष्य-भय की आशंका से दोनो पीले पड़ गए। दोनो ने एक दूसरे को देखा। भगवती ने सिर नीचा कर लिया। वृद्धा हाय कहकर रो उठी।

सुखदा ने कड़ककर कहा—"खबरदार, जो आँसू बहाए। अजवायन और सोंठ लाओ, और अँगीठी में झटपट कोयले जलाओ।"

इतना कहकर वह फिर जल्दी-जल्दी पसीना पोंछने लगी। अब की बार उसने देखा, घुटनों तक पाँव ठंडे ओले हो गए हैं। टैंपरेचर ९६ से नीचे हो रहा है। उसका कलेजा धक्-धक् करने

लगा। उसने रोगी की छाती पर कान लगाकर साँस की आवाज़ सुनी। साँस में कफ अटक रहा था। सुखदा का शरीर काँप गया, वह मानो अभी बेहोश होकर गिर पड़ेगी। पर उसने पुकारकर कहा—"अम्माजी, कोयले हो गए न?"

बुढ़िया अँगीठी उठा लाई। भगवती सोंठ और अजवायन पीस लाया। तीनो ने मालिश शुरू की। बहू भी आ मिली। अकेली बुढ़िया अब रो रही थी। भगवती का गला भर रहा था। बहू के तो हवास ठीक नहीं थे। उस समय यदि किसी को धैर्य था, साहस था, ज्ञान था, तो सुखदा को। वह कभी सिर पर, कभी पैर पर मालिश करती, कभी पेट टटोलती, कभी नाड़ी देखती। पसीना अब भी आ रहा था। अब रोगी का शरीर ओले के माफ़िक़ ठंडा हो गया।

रोगी ने कराहना शुरू किया। बुढ़िया के आँसू धड़ाधड़ बह रहे थे। सुखदा सतेज स्वर में उसे रोक रही थी। पर बुढ़िया मानो बहरी हो गई थी। उसे अपने लाल के बचने की आशा नहीं थी।

दिन निकल आया। रोगी ने पेशाब किया। पेशाब को बर्तन में लेकर, सुखदा ने एक ओर जाकर एक बूँद तेल की टपका दी। बूँद न हिली, न चली, न फैली; वह वहीं स्तब्ध पड़ी रही। उसने अपनी आँखों की धुंध पोंछकर देखा, वहीं थी। भगवती और वृद्धा ने एक साथ पूछा—"क्यों, क्या देखा?"

सुखदा घबरा गई। उसने बर्तन हाथ से गिरा दिया। दोनो ने फिर पूछा—"क्यों, क्या देखा ?"

सुखदा ने कहा—"बर्तन छूट ही गया, कुछ मालूम नहीं पड़ा।"

अब सुखदा की हिम्मत टूट गई। वह फिर अपने आसन पर आती थी; पर चक्कर खाकर वहीं बैठ गई। उसकी आँखें पथरा गईं। बहू दौड़ी। बुढ़िया भी बेटी-बेटी करके दौड़ी। बहू ने पानी का गिलास उसके मुँह से लगा दिया। सुखदा ने संकेत से उसे रोककर कहा—"ज़रा ठहरो। मैं अभी ठीक हुई जाती हूँ।" इतना कहकर वह फिर उठ खड़ी हुई। करारेपन से वह अपने आसन पर आ बैठी।

दिन चढ़ आया। डॉक्टर आए, देखा-भाला; शीघ्र ही वह बहुत गंभीर हो गए। सब उन्हीं की तरफ़ देख रहे थे। डॉक्टर साहब क्या कहते हैं, यह सुनने को सब उत्सुक थे, पर सुखदा अपने काम में लगी थी, वह नहीं चाहती थी कि डॉक्टर कुछ राय दे।

उसने पूछा—"डॉक्टर साहब, अब दवा कितनी-कितनी देर में दी जाय ?"

डॉक्टर कुछ देर खड़े सोचते रहे। फिर भगवती की तरफ़ एक नज़र फेंककर उदासी से बोले—"दवा और मालिश निरंतर चलती रहनी चाहिए। मैं एक घंटे में आता हूँ।"

एक घंटा बीत गया। डॉक्टर आए। थर्मामीटर लगाया।

पारा ९९ चढ़ गया। डॉक्टर ने एक बार देखा, दो बार देखा। आँखों पर भरोसा न हुआ। फिर झाड़कर लगाया। पारा ९९ में था। डॉक्टर के चेहरे पर मुस्किराहट छा गई। सबने व्यग्रता से पूछा—"क्या देखा?"

इस बार सुखदा ने भी डॉक्टर की ओर देखा। डॉक्टर ने सब ओर से मुँह फेरकर सुखदा ही से कहा—"ईश्वर की दया अपरंपार है। हरारत बढ़ रही है। मालिश किए जाओ। एक घंटे में फिर मैं आता हूँ।"

बुढ़िया ने धरती पर लोटकर डॉक्टर के पैर पकड़ लिए। उसने आँचल हाथ में लेकर कहा—"आप भगवान् की तरह मेरे लिये हो। मेरा लाल बच भी जायगा?"

डॉक्टर की आँखों में आँसू आ गए। सुखदा मालिश कर रही थी।

बारह बज गए। डॉक्टर ने आकर देखा, ज्वर १०२ है। यह भी देखा, श्वास ठीक है, और यह भी देखा कि रोगी के होश-हवास ठीक हैं। उसने सोने की दवा देकर कहा—"अब तुम खाओ-पिओ, कोई चिंता नहीं। सब ठीक हो गया।"

सुखदा ने हाथ रोककर कहा—"क्या मालिश की जरूरत नहीं?"

डॉक्टर ने कहा—"नहीं।"

सुखदा ने पोटली धरती पर डाल दी। उसने सास से

कहा— "अच्छा, अम्माजी ! तुम चौके में रसोई बनाओ। त्योहार का दिन है। ब्राह्मण-भोजन होना चाहिए।"

भगवती ने बहू से कहा— "जाओ, तुम जाकर रसोई बना लो, हम लोग तो यहाँ हैं।"

बहू चली गई। सुखदा के कहने-सुनने से बुढ़िया भी चली गई। सुखदा ने पुकारकर बहू से कहा—"अम्माजी को स्नान कराकर कुछ खिलाना, कल उन्होंने कुछ नहीं खाया है।"

रसोई तैयार हुई। ब्राह्मण भोजन कर गए। बहू ने सुखदा से आकर कहा—"चलो जीजी ! भोजन कर लो।"

प्रवीण सो रहे थे। सुखदा ने मुँह पर उँगली रखकर चुप रहने का संकेत किया, और चले जाने को कहा। पर बहू ने न माना। बुढ़िया ने भी आकर धन्ना दिया। जब सुखदा की एक भी न चली, तो रोगी के प्याले में, खाट के पास, जो थोड़ा दूध रक्खा था, उसे पी लिया। उससे अधिक उसने किसी की एक न सुनी। सब जिद करते रह गए।

फिर भी त्योहार के दिन सुखदा के कंठ से पति का उच्छिष्ट उतरा, इससे उसे तृप्ति ही हुई। वृद्धा और बहू लाचार लौट गईं। पीछे वृद्धा को खिलाने में भी बहू को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा।

दिन बीत गया। प्रवीण की एक बार नींद टूटी; पर वह कुछ बोल और कह न सके। सुखदा ने जो दवा उन्हें पिलाई, पी ली, और थोड़ा दूध भी पी लिया, और सो गए। सुखदा बैठी उनका मुख ताकती रही। धीरे-धीरे रात गंभीर हुई।

भगवती, वृद्धा और वहू, सबने हठ की, पर सुखदा ने अपना आसन नहीं छोड़ा। वह बार-बार पति की छाती पर झुककर साँस देखती थी। उसे प्रतीत होता था, आज स्वामी आधी नींद सो रहे हैं।

रात का सन्नाटा था। सब सो रहे थे। सुखदा चुपचाप पति का मुख निहार रही थी। उस समय वह मुख देखने योग्य नहीं था। दाढ़ी के बाल वढ़कर उलझ रहे थे, दुर्गंध आ रही थी। पीला और मलिन हो रहा था। पर सुखदा को उसे जी-भर देखने का अवसर कब मिला था? यद्यपि वह उसी का मुख था, पर उसे कभी मिला नहीं था। उसके मन में कुछ बात आई, और वह धीरे-धीरे बड़ी सावधानी से मुख पर झुकी, पर उन होठों को चूम न सकी। उसे इतना साहस न हुआ। वह प्रातःकाल की भयंकर स्थिति को सोचकर काँप गई। उसके अनंतर ही उसके हृदय में भक्ति और आस्तिकता की लहर उठी। वह वहीं—उसी आधी रात के सन्नाटे में—ऊपर मुँह उठाकर संसार के स्वामी की उपासना करने बैठी।

एकाएक प्रवीण हड़बड़ाकर उठ बैठे। सुखदा ने लपककर उन्हें पकड़ लिया। प्रवीण ने क्षीण, किंतु घबराए स्वर में कहा—"दस्त।" इसके बाद ही बिस्तरे में बड़े जोर से उनका दस्त निकल गया, बड़े जोर का शब्द हुआ, और सारा आँगन तथा सुखदा के वस्त्र भी खराब हो गए। दुर्गंध के

मारे घर-भर सड़ गया। आज चालीस रोज़ में रोगी को दस्त हुआ। इसके बाद ही वह निस्तेज होकर पड़ रहे।

सुखदा ने किसी को जगाया नहीं। उसने तुरंत बिछौना बदलकर पति को सुला दिया, धोती बदल दी, और मिट्टी लेकर घर को लीप दिया। उसके बाद तमाम कपड़े धो डाले। फिर थोड़ी सुगंधबत्ती लेकर जला दी।

प्रवीण की निद्रा टूट चुकी थी। मूर्च्छा भी नहीं थी। इसी दस्त के साथ मानो रोग गया, तन का भी, और मन का भी। वह खाट पर पड़े-पड़े सोचने लगे कि क्या हो रहा है? उन्हें स्थिति का ज्ञान हुआ। रोगी अवस्था में भी वह जब-जब सजग होते, घर और सुखदा को पहचानते थे। आज उन्होंने देखा, वही सुखदा, जिसकी ओर उन्होंने कभी आँख उठाकर नहीं देखा, उनकी कैसी सेवा कर रही है! आज ढाई मास से उसने अन्न का दाना नहीं खाया, केवल पति का अवशिष्ट पथ्य खाकर प्राण रक्खा है।

पाठक, पागल रोगी का उच्छिष्ट पथ्य खाकर कोई पुरुष भी अपनी स्त्री की ऐसी सेवा कर सकता है? पर हाँ, स्त्रियाँ तो पैर की जूतियाँ हैं। ठीक है। धीरे-धीरे प्रवीण खाट पर पड़े-पड़े अपने पूर्व-चरित्र का ध्यान करने लगे। एक-एक करके उनके कृत्य उनके सम्मुख आए। अब वह विचलित हो उठे। उनका हृदय उमड़ पड़ा, वह रोने लगे। रोने का तार बँध गया। उसे वह किसी तरह नहीं तोड़ सके। सुखदा बड़ी साव-

धानी से निःशब्द आँगन साफ़ करके मिट्टी से लीप रही थी। प्रवीण उसे देख-देखकर चुपचाप निःशब्द रो रहे थे। आँसुओं से तकिया भीग गया। अब उन्हें प्रतीत हुआ, कहाँ मेरा वह नीच व्यवहार, प्रबल वंचना और कहाँ यह सेवा और प्रेम! आज इस समय उन्हें सुखदा प्यार की पुतली देख पड़ी। वह उसे छाती से लगाने को व्याकुल हो उठे। पर यह बात सुखदा को मालूम न पड़ी। वह सब सफ़ाई करके और सुगंधित बत्ती जलाकर, दबे पैर स्वामी के पास आकर, खाट पर ज़रा झुककर देखने लगी, स्वामी जागते तो नहीं हैं। प्रवीण ने धीरे-धीरे अपना हाथ उठाया।

सुखदा प्रथम तो डरी। पर जब प्रवीण ने उसका हाथ पकड़ लिया, तब उसने देखा कि हाथ नर्मी से पकड़ा गया है। वह बोली—"तबियत कैसी है?"

अँधेरे में पति का रोना सती ने नहीं देखा। प्रवीण ने अपना सारा बल लगाकर स्त्री का हाथ खींचकर अपनी छाती पर रख लिया। सुखदा कंटकित हो गई। उसने फिर तनिक झुककर पूछा—"जी कैसा है?"

प्रवीण बोल न सके। उन्होंने दूसरा हाथ उसके गले में डालकर अपने ऊपर झुका लिया। उसके बाद तकिए पर ज़रा उठकर उन्होंने उसका मुँह भी चूम लिया। सुखदा का सारा ज्ञान विस्मृत हो गया। वह प्रवीण के दुर्बल बाहु-पाश को हटा न सकी। और वह पति की छाती पर झुक गई।
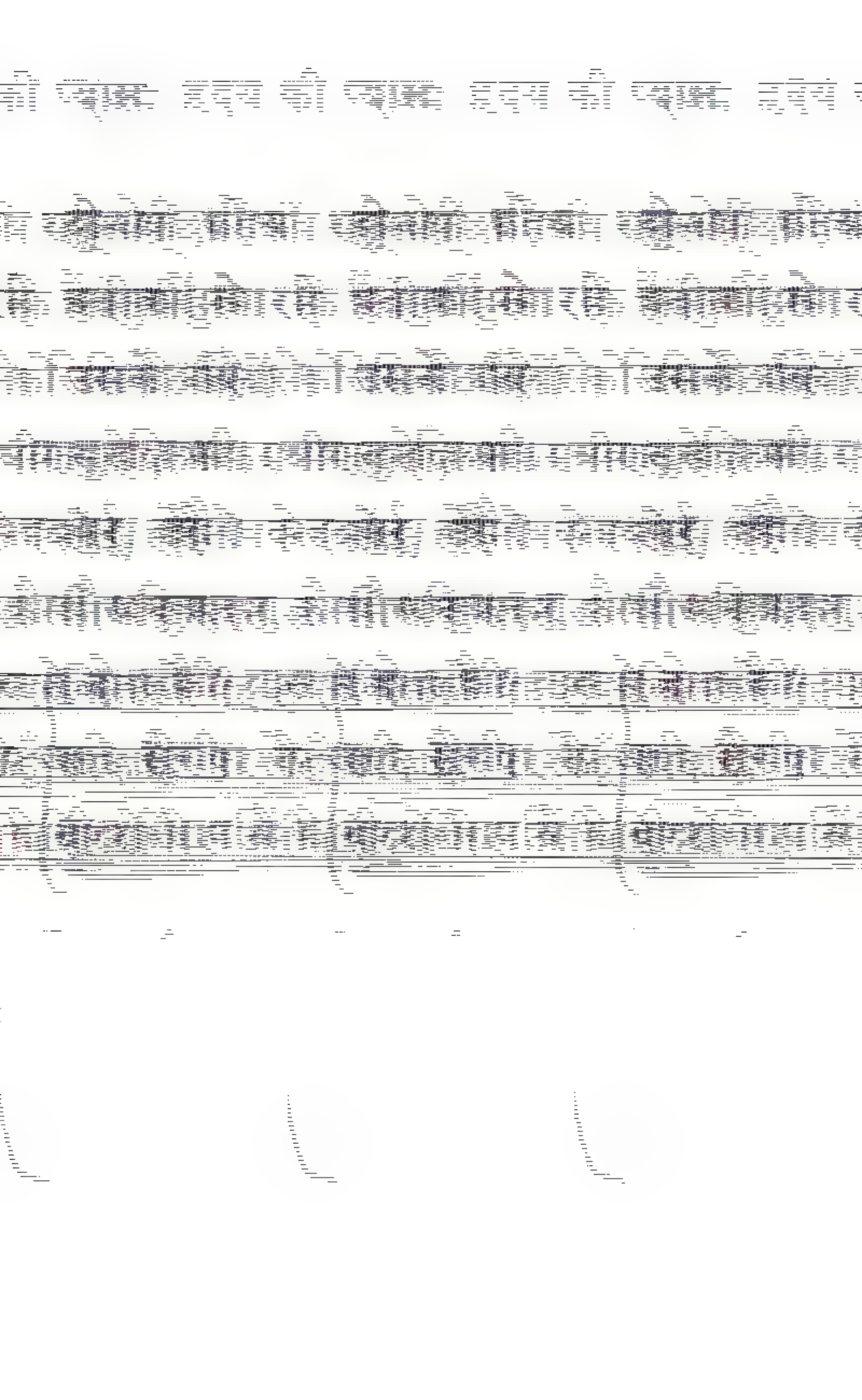
तेंतालीसवाँ परिच्छेद

रात बीत गई। प्रभात हुआ। कैसा सुंदर था वह प्रभात ! इस दुखिया लेखक की भगवान् के दर्बार में एक करुण प्रार्थना है कि हमारी पुस्तक के प्रत्येक पाठक-पाठिका को यह शुभ मंगलमय प्रभात नसीब हो।

पिंजरे में लटकते हुए मिट्ठू ने पुकारा—"भैया ! उठो।"

सुखदा ने उठकर उसकी चोंच से मुँह मिलाकर पुचकारा। उसका पिंजरा धोकर नहलाया, और दाल दी। कुत्ते ने बाहर से दोनो पंजे से किवाड़ खींचना आरंभ किया। सुखदा ने द्वार खोलकर प्यार से उस पर हाथ फेरा। दो रोटी खिला दीं। इसके बाद उसने घर-आँगन बुहार डाला। इतने में भगवती ने घर में घुसकर कहा—"भाभी ! रात भैया की तबियत कैसी रही ?"

प्रश्न करने पर जो भगवती ने भाभी की प्रफुल्ल मुखाकृति देखी, तो उसका मुख भी प्रसन्न हो गया। वह चारपाई की तरफ़ को चला। सुखदा ने उत्साह से कहा—"देखना, जगाना मत। अभी आँख लगी है।"

आहट पाकर प्रवीण जागे। ज्वर बिलकुल न था, होश-हवास ठीक थे। भगवती ने पास बैठकर पूछा—"भैया, तबियत कैसी है ?"

प्रवीण ने भगवती का हाथ पकड़ लिया। मुँह से बोली न निकली। आँखों से आंसू बह चले।

भगवती ने अपने आँसू रोककर कहा—"भैया, भगवान् ने तुम्हें अच्छा कर दिया, यह हमारे भाग्य थे।"

प्रवीण चुपचाप रोते रहे। सुखदा ने पास आकर कहा—"ऐसा क्यों करते हो ?"

इतना कहकर उसने आंसू पोंछ दिए। प्रवीण का रोना न थमा, उन्होंने रोते हुए स्वर में कहा—'भगवती, तुमने मुझे क्यों बचाया ?"

भगवती ने कहा—"बचने की तो क्या आशा थी, तुम्हें भाभी ने बचाया है। भैया ! मैं तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। देखो, भाभी को अब दुखी मत करना। ऐसी सती कहीं देखी नहीं है। जानते हो, ढाई मास की कठिन तपस्या से तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है। इस बीच में इन्होंने न अन्न लिया, न जल; न नींद, न स्नान; न वस्त्र बदला; पत्थर की मूर्ति की तरह बैठी रही हैं। रात-दिन आँखों में गए हैं। किसी की नहीं सुनी, सब रोए, पर इन्होंने आँसू नहीं गिराया। भैया, भाभी कलियुग की सावित्री हैं। इनका अपमान मत करना।"

इतना कहते-कहते भगवती का गला भर गया, और उसने अत्यंत कातर भाव से प्रवीण को हाथ जोड़े, और आंखों से आँसुओं की झड़ी लग गई।

सुखदा वहां ठहर न सकी। वह बाहर खिसक गई। प्रवीण

चुपचाप रोते रहे। कुछ ठहरकर भगवती ने कहा—"रोओ मत। जो हुआ, सो हुआ। भगवान् ने तुम्हें सुखी किया।"

प्रवीण ने आँखें पोंछ डालीं। सुखदा तभी सास को लेकर आ खड़ी हुई। बुढ़िया ने बेटे का सिर गोद में ले लिया, और तरह-तरह के प्यार-दुलार करने लगी। धड़ाधड़ उसके आँसू बह रहे थे। ग़रीब सुखदा यह भी न देख सकी, वह फिर खिसक गई। प्रवीण ने कुछ झुककर माता के चरण छूने चाहे, मुँह से क्षमा माँगने का बहुत साहस किया; पर क्षमा माँग न सके।

बुढ़िया ने असंख्य, असीम, अपरिमित मानताएँ मनाईं। भगवती ने बात फेरने को कहा—"मा, अब कुछ दान-धर्म करना होगा।"

बुढ़िया के आंसू सूख गए। वह बोली—"बताओ, क्या दान-धर्म करना होगा?"

भगवती ने कहा—"मुझे खीर-पूरी पेट भरकर खिलाओ, और भैया की वह चाँदी की मूठ की छड़ी दक्षिणा में दो।"

वृद्धा के होठ हँस पड़े, पर आँखें रोती ही रहीं।

प्रवीण ने भगवती से कहा—"बहू कहाँ है? प्रमोद को बुलाओ तो।"

सुखदा ने पीछे से कहा—"नाइन बुलाने गई है। अभी वह आती होगी।"

थोड़ी देर में बहू ने घर में आकर देखा कि घर-भर प्रसन्न

है। उसने यह देखा, प्रवीण उसे देखकर कुछ तकिए के सहारे उठे भी हैं। उसने तनिक घूँघट सरकाकर हँसते-हँसते बच्चे को प्रवीण की गोद में दे दिया। प्रवीण ने उसे लेकर छाती से लगा लिया। प्रेम का पक्का परखैया बच्चा भी छाती से चिपक गया। एक क्षण सन्नाटा रहा। प्रवीण ने धीरे से बच्चे को हटाया। बहू ने हाथ बढ़ाकर लेना चाहा। प्रवीण ने कहा—"न बहू ! तुम्हें न दूँगा।"

इतना कहकर उन्होंने चारो तरफ़ आँख फिराकर सुखदा को देखा। सुखदा सिरहाने खड़ी थी। प्रवीण ने बच्चा उसी की ओर बढ़ा दिया। भगवती की आंखों में आंसू आ गए। सुखदा ने बच्चे को गोद से चिपका लिया।

भगवती ने गद्‌गद कंठ से कहा—"भाभी ! प्रमोद तुम्हारा हुआ।"

सुखदा ने एक बार भगवती की ओर कौतूहल से देखा। फिर बहू की तरफ़ देखा। बहू ने भी हँसकर कहा—"यह लो जीजी, इसकी टोपी। जंजाल कटा। अब सोना नसीब होगा।"

प्रवीण के मुख पर मुस्किराहट आ गई। वृद्धा के मन में बहू की तरफ़ से मलाल था। पर इस समय उसने बहू को छाती से लगा लिया। उसकी आँखों में आँसू भर रहे थे।

उसी समय डॉक्टर ने इस सुखी मंडली में प्रवेश किया।

प्रवीण ने उनसे हाथ मिलाया। डाक्टर ने मुस्किराकर पूछा—"कहो, कैसी तबियत है?"

प्रवीण ने सुखदा की ओर इशारा करके कहा—"इससे पूछो।"

सुखदा लज्जित होकर बच्चे को लिए वहाँ से खिसक गई। साथ में बहू भी चल दी। वृद्धा भी कुछ काम को चली गई। डाक्टर ने भी कुछ जरूरी सलाह देकर प्रस्थान किया।

चवालीसवाँ परिच्छेद

सुख का दिन आया। रोगी को डॉक्टर ने स्नान करने की आज्ञा दे दी।

चार बजे ही से सुखदा घर-आँगन लीपने में लगी है।

दिन निकलते ही प्रवीण ने स्नान की ज़िद की है। किंतु सुखदा कहती है, ज़रा ठहर जाओ, धूप चढ़ने दो। धूप भी चढ़ी। नाई ने क्षौर किया। सुखदा ने उबटन लगाकर पति को गरम पानी से स्नान कराया। मैल की बत्तियाँ उतरने लगीं। उसके भीतर से पति की नई कंचन-काया निकलने लगी। इसके अनंतर नवीन वस्त्र पहनाकर, स्वच्छ शय्या पर उन्हें बैठाकर सुखदा स्वयं स्नान करने को उतरी। प्रवीण ज़िद पकड़ गए। बोले—"तुम्हें भी उबटन करना होगा।"

सुखदा ज़िद में सबको हराती थी, पर पति से हार गई। सुखदा ने उबटन से स्नान कर उज्ज्वल धरे हुए वस्त्र पहने। प्रवीण ने जबरदस्ती उसे गोटे के ब्याहले कपड़े पहनाए। इसके अनंतर उसने फूल-माला और आरती से पतिदेव की पूजा की। तदनंतर चरण-रज सिर पर चढ़ाया। प्रवीण की आँखों में फिर आँसू भर आए। इसके बाद एक हाथ में

जल-भरा लोटा और दूसरे में मिठाई का थाल लेकर मुस्कराती बोली—"चलो, अम्माजी को नमस्ते कर आवें।"

प्रवीण उठे। अभी लड़खड़ाकर चलते थे। आगे-आगे सुखदा, पीछे-पीछे प्रवीण थे। दूसरे घर में वृद्धा रसोई तैयार किए बैठी थी। सुखदा ने वहाँ पहुँचकर गर्व-भरे स्वर से कहा—"अम्माजी! यह लो, अपने बेटाजी को सम्हालो।"

वृद्धा चौके से निकलकर आँगन में आई। सुखदा ने धरती में लोटकर सास को साष्टांग दंडवत किया। उसके पीछे प्रवीण थे। उन्होंने माता की चरण-धूल ली।

वृद्धा ने सुखदा को उठाकर बहू-बेटी को छाती से लगा लिया, और अपने हाथ के अँगूठी-छल्ले उतारकर बहू-बेटी पर वारकर नाइन-कहारिन को दे दिए। फिर उसने उछाह से कहा—"अरी मेरी सावित्री बेटी, आ। तेरे ही प्रताप से मैंने पुत्र पाया; नहीं तो मुझ बुढ़िया का क्या भाग्य था? तू बूढ़ी सुहागन हो, और पुत्रों गोद भरे।"

इसके बाद उसने पुत्र को पुचकारकर भोजन के आसन पर बैठाया। इतने ही में बहू और भगवती भी आ गए। सुखदा ने झट से दूसरा आसन लाकर भगवती के लिये बिछा दिया।

भगवती ने नखरे से कहा—"यह क्या भाभी, क्या मुझे भी रोगी के साथ पथ-पानी खाना पड़ेगा?"

सुखदा ने मुस्किराकर कहा—"तो फिर बहू से सलाह कर लो।"

प्रवीण ने उठकर भगवती का हाथ पकड़ लिया। दोनों भाई भोजन करने बैठे। भगवती ने कहा—"माजी, भला मेरा भैया का क्या साथ ? मैं खाऊँगा खूब और यह रहे रोगी। खाएँगे चीख-चीखकर।"

वृद्धा ने हँसकर कहा—"तो डर क्या है ? तू चाहे जितना पेट भरकर खा ले।"

प्रवीण बोले—"मैं तब तक बैठा रहूँगा।"

भगवती ने कहा—"गृद्ध की दृष्टि से ताकते रहोगे ? क्यों न ?"

मा ने प्रवीण से कहा—"जल्दी-जल्दी खाओ। तुम तो बातों ही में सारा समय बिता रहे हो। देखो, वह तो आधा थाली साफ़ कर गए।"

सुखदा ने हँसकर कहा—"देखा, घुटने पेट को ही मुड़ते हैं।"

वृद्धा ने कहा—"खा ले, खूब-सा।"

इतना कहकर कटोरा-भर खीर भगवती के सामने रख दी। प्रवीण ने कहा—"मा, मुझे भी तो और दे।"

सुखदा ने कहा—"न अम्माजी, इन्हें बहुत मत देना। पेट में गरिष्ठ होकर बैठ जायगी। बस, अब तुम दाल पियो।"

वृद्धा ने बहू को झिड़ककर कहा—"चुप रह री ! मेरे बच्चे को खाने दे।"

कहकर एक आधा चम्मच खीर प्रवीण की थाली में टपका दी। वहू हँस पड़ी। भगवती ने भी क़हक़हा लगाया।

प्रवीण बोले—"हद हो गई। इस पक्षपात को देखना, यह खीर दी है।"

इतना कहकर उसने भगवती के आगे से खीर-भरा कटोरा उठा लिया।

भगवती ने कहा—"अरे-अरे भुक्कड़राव! डाका डालते हो? तो यह लो।"

इतना कहकर उसने लोटा-भर पानी उनकी थाली में डाल दिया।

प्रवीण बोले—"हाय-हाय, अभी तो मेरा पेट भी न भरा था।"

भगवती ने हाथ पकड़कर कहा—"चलो, उठो। अब कल खाना।"

युगल जोड़ी उठ गई। सुखदा ने दो वीड़े बनाकर दोनो के हाथ में दिए। दोनों भाई बैठक में बाहर जा बैठे।

अब बहू और सुखदा की बारी आई। एक दिन दोनो का सहभोज हुआ था। आज भी हुआ। उस दिन आँसू थे, आज था हास्य। सुखदा और बहू ने बद-बदकर खाया। प्रमोद सुखदा की गोद में था। बहू ने हाथ फैलाकर कहा—

"[illegible]"